

समय



जनवरी-मार्च, 2022 ♦ नई दिल्ली



नाहि तो जन्म नसाई

जल्दबाजी में किए गए कुछ तुगलकी फैसलों और कोविड-19 की मार से चरमरायी अर्थव्यवस्था जो धीरे-धीरे पटरी पर लौट रही थी, पेट्रोल और डीजल के बढ़ते हुए मूल्यों के चलते जिस पर यूक्रेन और रूस की जंग ने जलती पर तेल का काम किया है, एक बार फिर अनिश्चितता का शिकार हो गई है। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने जीडीपी की विकास दर और मुद्रा स्फीति की दर के बारे में जो अनुमान लगाया है वह आने वाले समय की बड़ी खतरनाक तस्वीर पेश करता है। महंगाई की दर में और भी वृद्धि होने और काफी समय तक बने रहने के बारे में अर्थशास्त्रियों ने जो चिंताएं व्यक्त की हैं उससे स्थिति की गंभीरता का अंदाजा होता है और इस संदर्भ में अगर आवश्यक कदम न उठाए गए तो हालात काबू से बाहर हो सकते हैं। अधिक चिंताजनक बात यह है कि पिछले कुछ वर्षों में वह लोग जो गरीबी रेखा से ऊपर उठने में सफल हुए थे एक बार फिर अनिश्चित भविष्य का निशाना बन सकते हैं क्योंकि पेट्रोल, डीजल और गैस के मूल्यों में वृद्धि की मार इसी गरीब वर्ग को झेलनी पड़ती है और उसे जीवन की छोटी-छोटी जरूरतों के लिए भी समझौता करना पड़ता है। जिसके नतीजे में उसे कुपोषण और स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याओं आदि से जूझना पड़ता है। ये बात किसी से ढकी-छुपी नहीं है कि हमारे असंगठित क्षेत्र में जो रोजगार के सबसे ज्यादा अवसर पैदा करता है वहां न केवल अवसर सिकुड़ रहे हैं बल्कि वेतन में वृद्धि तो दूर उसमें भी खतरनाक हद तक कमी हो रही है और लोग पहले से कम वेतन पर काम करने के लिए बाध्य हैं। इसमें संदेह नहीं कि विभिन्न सरकारों की कुछ योजनाओं की वजह से अत्यंत निर्धनता में जीने वालों की संख्या में निरंतर कमी हो रही है। मगर कुछ वर्षों में इस कमी की दर में गिरावट देखी जा रही है। जिसमें कोविड का भी बड़ा हाथ है। सरकार ने इस बीच मुफ्त राशन जैसी स्कीमों के जरिए एक बड़ी आबादी को राहत पहुंचाने का कार्य किया है मगर इस तरह के प्रयास किसी समस्या का स्थायी हल नहीं हैं इसलिए आर्थिक व्यवस्था में बदलाव लाने की जरूरत है और फौरी तौर पर असंगठित क्षेत्र में न्यूनतम मजदूरी या वेतन की समीक्षा करने और उसे बढ़ती हुई महंगाई के अनुसार तय करने की जरूरत है। मगर इस तरह की सोच को अमली जामा पहनाने के लिए हमें चुनावी स्वार्थ और उद्देश्यों से ऊपर उठकर, हिजाब, हलाल और अजान जैसे अनावश्यक मुद्दों, सांप्रदायिकता और ध्रुवीकरण की राजनीति को त्यागकर ईमानदारी के साथ अपनी प्राथमिकताएं तय करनी होंगी। क्योंकि वर्तमान वातावरण के कारण पूरे विश्व में हमारी साख जिस तरह धूमिल हो रही है वह देश की अर्थव्यवस्था के लिए भी बड़ी घातक सिद्ध हो सकती है जिसके बारे में रिजर्व बैंक के एक भूतपूर्व गवर्नर और कारपोरेट जगत की एक बड़ी शिखिसयत हमें पहले ही सचेत कर चुकी है।

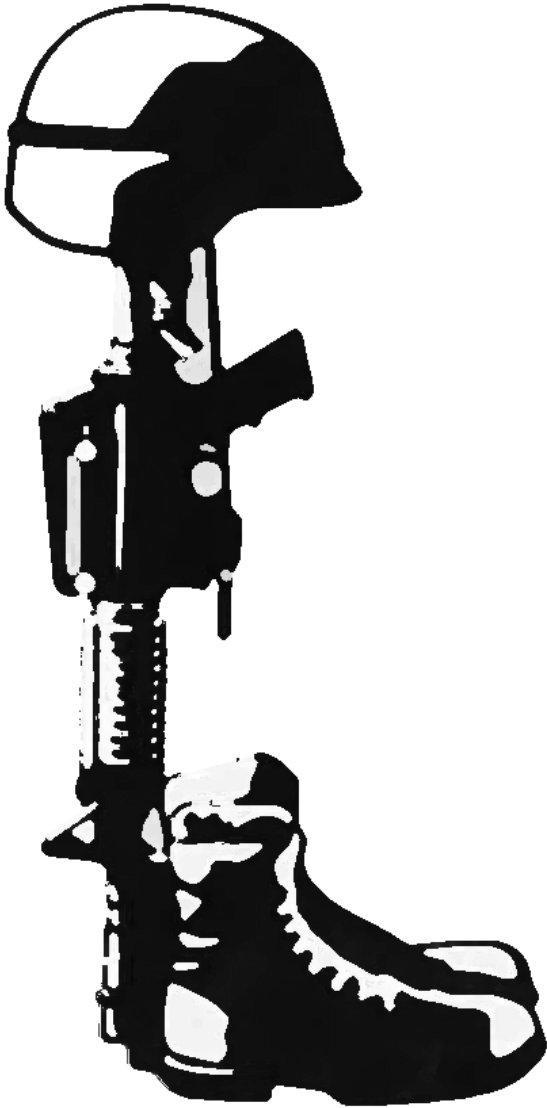
युद्ध समाप्त हो जाएगा
नेता झूथ मिलाएंगे।

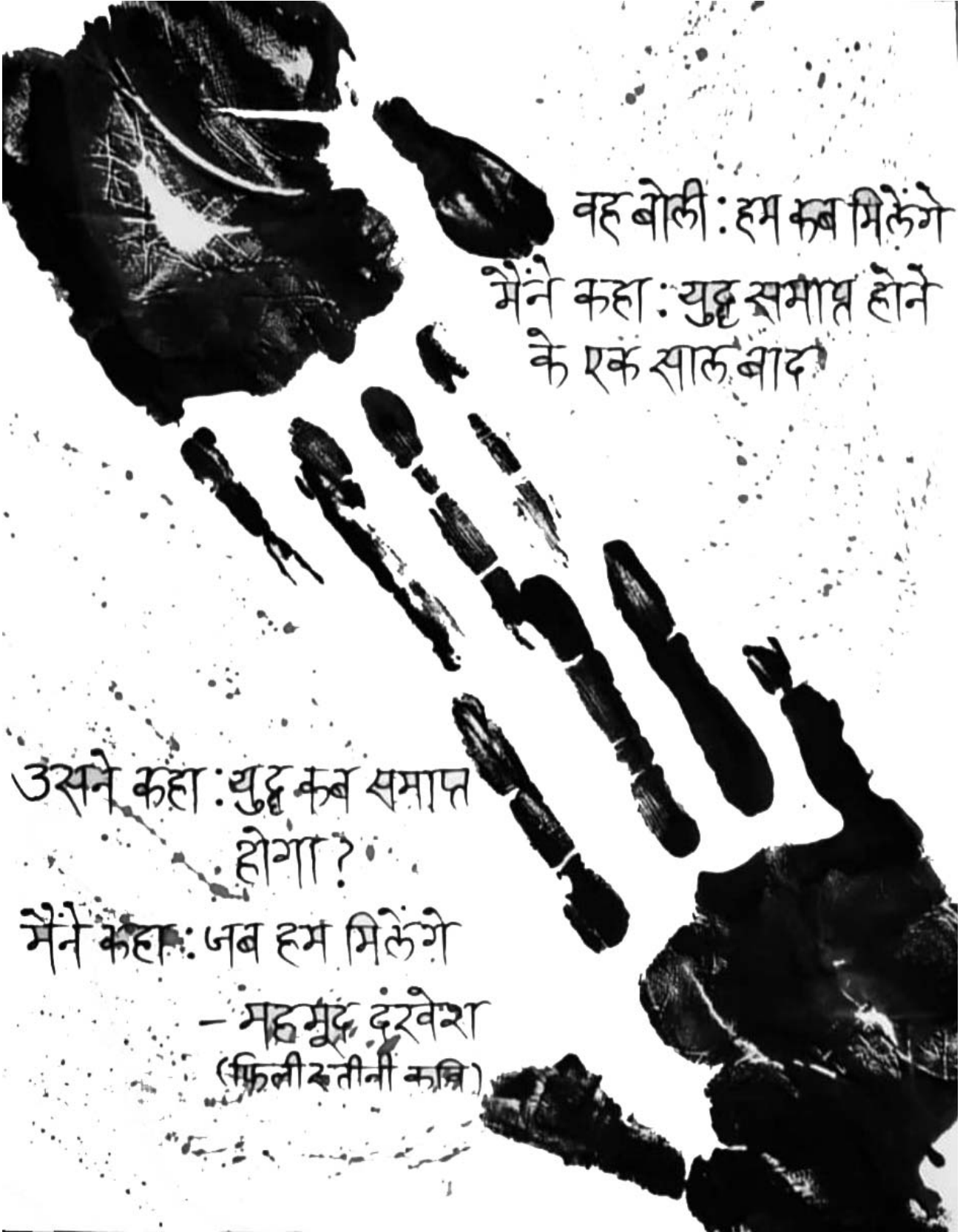
एक बूढ़ी माँ
शहीद हो चुके बेटे का
इंतज़ार करेगी

एक लड़की अपने प्यारे पति का
इंतज़ार करेगी
और बच्चे
अपने बहादुर पिता का

मुझे नहीं पता कि
हमारे वतन को किसने बेचा
लेकिन मैंने देखा है
इसकी कीमत किसने चुकाई।

-महमूद दरवेश-





वह बोली: हम कब मिलेंगे
मैंने कहा: युद्ध समाप्त होने
के एक साल बाद

उसने कहा: युद्ध कब समाप्त
होगा?

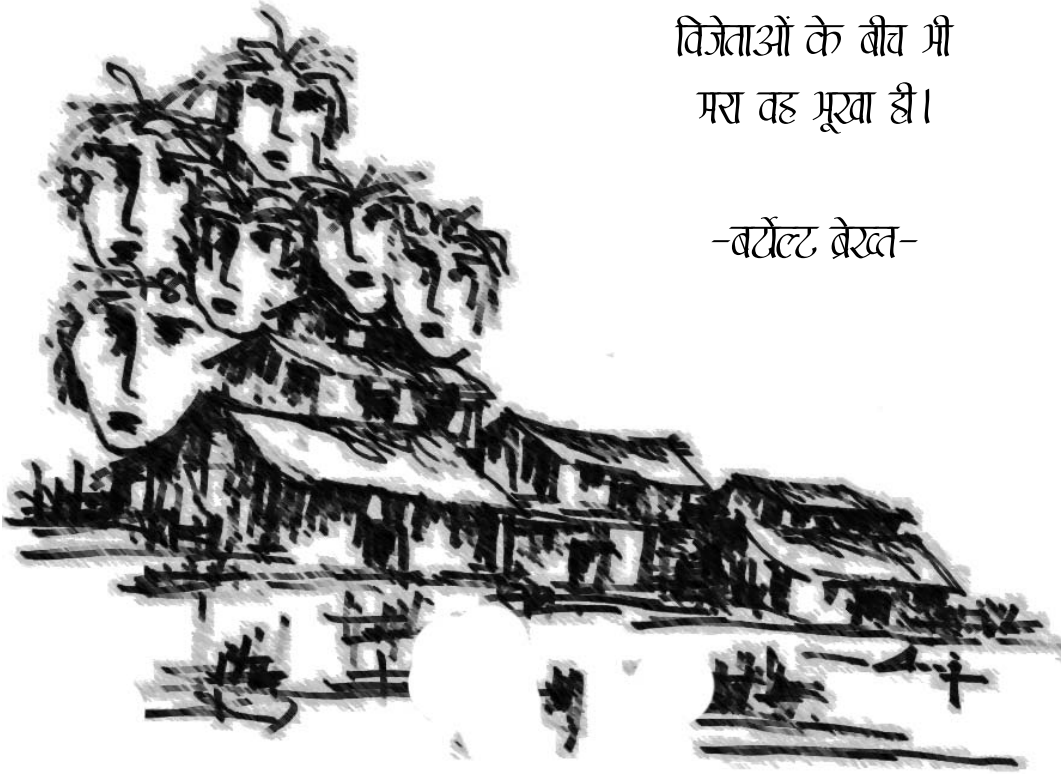
मैंने कहा: जब हम मिलेंगे
- महमूद दरवेश
(फिलीस्तीनी कवि)

युद्ध
जो आ रहा है
पहला युद्ध नहीं है।
इससे पहले भी युद्ध हुए थे।

पिछला युद्ध
जब खत्म हुआ
तब कुछ विजेता बने
और कुछ विजित

विजितों के बीच
आम आदमी मूर्खों मरा
विजेताओं के बीच भी
मरा वह मूर्ख ही।

-बर्टोल्ट ब्रेख्त-



ऐ शरीफ़ इंसानो

खून अपना हो या पराया हो
नस्ल-ए-आदम का खून है आखिर
जंग मशरिक¹ में हो कि मगरिब² में
अमन-ए-आलम³ का खून है आखिर

बम घरों पर गिरे कि सरहद पर
रूह-ए-तामीर⁴ ज़ख्म खाती है
खेत अपने जलें कि औरों के
जीस्त⁵ फाकों से तिलमिलाती है

टैंक आगे बढ़ें कि पिछे हटें
कोख घरती की बाँझ होती है
फाट का जश्न हो कि झर का सोग
ज़िंदगी मर्यातों⁶ पे रोती है

जंग तो खुद ही एक मसअला⁷ है
जंग क्या मसअलों का हल देगी
आग और खून आज बरशोगी
मूक और एडितियाज⁸ कल देगी

इस लिए ऐ शरीफ़ इंसानो
जंग टलती रहे तो बेहतर है
आप और हम सभी के आँगन में
श-अ' जलती रहे तो बेहतर है

बरतरी⁹ के सुबूत¹⁰ की खातिर
खूँ बहना ही क्या ज़रूरी है
घर की तारीकियाँ¹¹ मिटाने को
घर जलाना ही क्या ज़रूरी है

जंग के और भी तो मैदान हैं
सिर्फ़ मैदान-ए-किश्त-ओ-खूँ¹² ही नहीं
झसिल-ए-ज़िंदगी¹³ खिरद¹⁴ भी है
झसिल-ए-ज़िंदगी जुन्नूँ¹⁵ ही नहीं

आओ इस तीस-बख्त¹⁶ दुनिया में
फिक्र¹⁷ की रैशनी को आम करें
अमन को जिन से तक्तिवयत¹⁸ पहुँचे
ऐसी जंगों का एहतिमाम¹⁹ करें

जंग वहशत²⁰ से बरबरिस्सयत²¹ से
अमन तहज़ीब ओ इतिंका²² के लिए
जंग मर्ग-आफरीं सिरासत²³ से
अमन इंसान की बका²⁴ के लिए

जंग इफलास²⁵ और गुलामी से
अमन बेहतर निज़ाम की खातिर
जंग भटकी हुई क़यादत²⁶ से
अमन बे-बस अताम की खातिर

जंग सरमाए²⁷ के तसल्लुत²⁸ से
अमन जम्हूर²⁹ की खुशी के लिए
जंग जंगों के फलसाफे³⁰ के खिलाफ़
अमन पुर-अमन जिंदगी³¹ के लिए

1. पूर्व, 2. पश्चिम, 3. विश्व शांति, 4. निर्माण का जज़्बा, 5. जीवन, 6. अर्थियों पर, 7. समस्या, 8. आवश्यकताएं, 9. बहपन, 10. प्रमाण, 11. अंधेरे, 12. मारकाट का मैदान, 13. जीवन की उपलब्धि, 14. बुद्धि, 15. पागलपन, उन्माद, 16. भाग्यहीन, 17. चिंतन-मनन, 18. शक्ति-बल, 19. प्रबंध, 20. असम्यता, पागलपन, 21. पशुता, 22. सम्यता और उन्नति, 23. मौत उत्पन्न करने वाली राजनीति, 24. मलाई, 25. गरीबी, 26. नेतृत्व, 27. पूंजी, धन, 28. आधिपत्य, 29. जनता, 30. विचारधारा, 31. दर्शन.

द ग्रेट डिस्ट्रेटर, कॉमेडी के लीजेंड चार्ली चैप्लिन द्वारा अभिनीत एक कालजयी फिल्म. साल 1940 में बनी इस फिल्म के अंत में दिया गया भाषण तब जितना मौजू था वह आज भी उतना ही मौजू है और यह बड़े दुख की बात है। यह भाषण जहां एक ओर मशीनी युग की तार्किक आलोचना करता है तो तानाशाही की मुख्य मुख्यालफत भी. मनुष्यता की भावना को सर्वोपरि स्थान पर रखता यह भाषण, भाषण मात्र नहीं बल्कि दिल की गहराइयों से निकली आवाज़ है और यह आवाज़ हर लिहाज से सुनी जाने लायक है जोकि युद्ध की विभीषिका में शांति और मानवता का एक अद्भुत संदेश दे जाती है...



माफ कीजिए, लेकिन मैं सम्राट बनना नहीं चाहता। यह मेरा काम नहीं है। मैं किसी पर हुकूमत नहीं करना चाहता, किसी को हराना नहीं चाहता। बल्कि मैं हर किसी की मदद करना पसंद करूंगा। यहूदियों की, गैर यहूदियों की, काले लोगों की, गोरे लोगों की। हम सब एक दूसरे की मदद करना चाहते हैं। इंसान की फितरत ही यही है। हम सब साथ मिल कर खुशी से रहना चाहते हैं, ना कि एक दूसरे की परेशानियां देखकर खुश होना। हम एक दूसरे से नफरत और घृणा नहीं चाहते। इस दुनिया में हर किसी के लिए गुंजाइश है और धरती इतनी अमीर है कि सभी की जरूरतें पूरी कर सकती है।

जिंदगी जीने का तरीका आज़ाद और खूबसूरत हो सकता है, लेकिन हम रास्ते से भटक गए हैं। लालच ने इंसान के ज़मीर को जहरीला बना दिया है। दुनिया को नफरत की दीवारों में जकड़ दिया है। हमें मुसीबत और खून-खराबे की हालत में धकेल दिया है। हमने रफ्तार विकसित की है, लेकिन खुद को उसमें बंद कर लिया। मशीनें बेशुमार पैदावार करती हैं, लेकिन हम कंगाल हैं। हमारे ज्ञान ने हमें पागल बना दिया है। चालाकी ने कठोर और बेरहम बना दिया है। हम सोचते ज्यादा हैं और महसूस कम करते हैं। मशीनों से ज्यादा हमें इंसानियत की जरूरत है। होशियारी कि जगह हमें नेकी और दयालुता की जरूरत है। इन खूबियों के बिना जिंदगी हिंसा से भर जाएगी और सब कुछ खत्म हो जाएगा।

हवाई जहाज़ और रेडियो जैसे अविष्कारों ने हमें एक दूसरे के करीब ला दिया। इन खोजों की स्वाभाविक प्रवृत्ति इंसानों से ज्यादा शराफत की मांग करती है। दुनिया भर में भाईचारे की मांग करती है। इस समय भी मेरी आवाज़ दुनिया भर में लाखों लोगों तक पहुंच रही है, लाखों निराश-हताश मर्दों, औरतों और छोटे बच्चों तक, व्यवस्था के शिकार उन मासूम लोगों तक, जिन्हें सताया और कैद किया जाता है। जो मुझे सुन पा रहे हैं, मैं उनसे कहता हूँ कि नाउम्मीद ना होइए। जो बदहाली आज हमारे ऊपर थोपी गयी है, वो लोभ-लालच का, इंसानों की नफरत का नतीजा है। लेकिन एक न एक दिन लोगों के मन से नफरत खत्म होगी ही। तानाशाह खत्म होंगे और जो सत्ता उन लोगों ने जनता से छीनी है, उसे वापस जनता को लौटा दिया जाएगा। आज भले ही लोग मारे जा रहे हो, लेकिन उनकी आज़ादी कभी नहीं मरेगी।

सिपाहियो! अपने आप को धोखेबाजों के हाथों मत सौंपो। उन लोगों को जो तुमसे नफरत करते हैं, तुम्हें गुलाम बनाकर रखते हैं। जो तुम्हारी जिंदगी के फैसले करते हैं। तुम्हें बताते हैं कि तुम्हें क्या करना है, क्या सोचना है और क्या महसूस करना है। जो तुम्हें खिलाते हैं, तुम्हारे साथ पालतू जानवरों जैसा बर्ताव करते हैं। अपने आप को इन बनावटी लोगों के हवाले मत करो। मशीनी दिल और मशीनी दिमाग वाले इन मशीनी लोगों के हवाले। तुम मशीन नहीं हो! तुम पालतू जानवर भी नहीं हो! तुम इंसान हो! तुम्हारे दिलों में इंसानियत के लिए प्यार है।

तुम नफरत नहीं करते! नफरत सिर्फ वो लोग करते हैं जिनसे कोई प्यार नहीं करता, सिर्फ अप्रिय और बेकार लोग। सैनिकों, गुलामी के लिए नहीं, आज़ादी के लिए लड़ो।

सैंट ल्युक के 17 वे अध्याय में लिखा है, 'भगवान का साम्राज्य इंसान के भीतर ही है'। यह साम्राज्य किसी एक इंसान या किसी खास समूह के भीतर नहीं, बल्कि सभी इंसानों के अंदर है। तुम में भी। तुम में ही मशीनों को बनाने की शक्ति है। खुशियां इजाद करने की शक्ति है। तुम में ही अपनी जिंदगी को खूबसूरत और आज़ाद बनाने की ताकत है। तुम ही इसे रोमांचक यात्रा बना सकते हो।

तो लोकतंत्र के नाम पर आइए इस ताकत का इस्तेमाल सब को एकजुट करने के लिए करें। एक ऐसी दुनिया के लिए लड़ें, जो सभी इंसानों को काम करने के समान मौके दे। जो देश के युवाओं का भविष्य सुनिश्चित और बूढ़े लोगों का बुढ़ापा सुरक्षित करे। इन्हीं वादों के साथ क्रूर लोग सत्ता में आये हैं। लेकिन वो झूठ बोलते हैं। उन्होंने अपने वादे पूरे नहीं किए। कभी करेंगे भी नहीं। तानाशाह खुद तो आज़ाद हैं, लेकिन लोगों को गुलाम बनाते हैं। आइए उन वादों को पूरा करवाने के लिए जंग लड़ें। दुनिया को मुक्त करने के लिए लड़ें। राष्ट्रीय सीमाओं से मुक्त हो जाएं। लालच, नफरत और घृणा से मुक्त हो जाएं। एक ऐसी दुनिया के लिए संघर्ष करें, जहां विज्ञान और विकास खुशियों के पथ-प्रदर्शक हो। जवानों! आओ लोकतंत्र के नाम पर हम सब एक हो जाएं!

भारतीय समाज की आत्मा तक क्षुद्रता की गलाजत में सन गई है

अपूर्वानंद

जो दुख में है, पीड़ित है, उसी की खिल्ली उड़ाने का नया रिवान इस देश में चल पड़ा है। इसे क्या क्षुद्रता कहा जाए?
या यह बड़ा चारित्रिक पतन है? हर कुछ रोज़ पर इस क्षुद्रता का एक नया नमूना देखने को मिलता है।
अभी यूक्रेन पर रूसी हमले के समय यह फिर उभर आई है।

कर्नाटक निवासी नवीन के पार्थिव शरीर को यूक्रेन से वापस लाने के सवाल पर कर्नाटक के एक मंत्री ने कहा कि एक मृत शरीर जितनी जगह छेंकता है, उतने में 8 लोग वापस आ जाएंगे। यह बयान नवीन के परिवार के ज़ख्म पर नमक रगड़ने की तरह ही है। उसे जिंदा तो यूक्रेन से सरकार न ला सकी, अब मरने के बाद उसके शरीर को घर लाने को ही बेकार बता रही है।

यह क्षुद्रता है या क्रूरता? इतनी क्षुद्रता, इतनी नीचता, इतना ओछापन, इतना छिछोरापन, इतनी हिंसा! इतनी बेहिंसी! अपने ही लोगों के लिए इतनी घृणा और उनका अपमान करने की इतनी तत्परता! यह सब कहां छिपा था?

पिछले 8 साल से यह कीच बहकर बाहर फैल रहा है। भारतीय समाज के सिर्फ पैर नहीं, उसकी आत्मा तक इस गलाजत में सन गई है। लेकिन क्या इसकी शुरुआत और पहले नहीं हो गई थी?

हर कुछ रोज़ पर इस क्षुद्रता का एक नया नमूना देखने को मिलता है। अभी यूक्रेन पर रूसी हमले के समय यह फिर उभर आई है। यूक्रेन में हमले के बाद फंस गए हजारों भारतीय छात्रों की उन्हें बाहर निकालने की गुहार पर सत्ताधारी दल के नेता और समर्थक जिस तरह उन्हीं छात्रों का मजाक उड़ा रहे हैं, उन्हें ही उनकी मुश्किल के लिए जिम्मेदार ठहरा रहे हैं, उससे मालूम होता है कि उन्हें पूरा यकीन हो चला है कि भारत की जनता में आत्मबोध और आत्मसम्मान लुप्त हो चुका है।

वरना जब पहली बार जब यह बात सार्वजनिक हुई

कि यूक्रेन में फंस गए छात्रों को वक्त रहते निकालने के लिए भारत सरकार ने पर्याप्त उपाय नहीं किए तो अफ़सोस जताने की जगह प्रधानमंत्री ने अपने पहले बयान में इस पर चिंता जाहिर करके विषयांतर किया कि आखिर हमारे बच्चे बाहर जाते ही क्यों हैं!

असली मसले पर बात न करके जो अभी की फौरी ज़रूरत है, जनता को यह न बताकर कि सरकार क्या कर रही है इन छात्रों को सुरक्षित निकालने के लिए, उन्होंने विषय ही बदल दिया। क्यों नहीं निजी क्षेत्र मेडिकल शिक्षा में निवेश करता, क्यों नहीं राज्य सरकारें इसके लिए सस्ती दर पर ज़मीन मुहैया करातीं, आदि आदि प्रश्न वे उस वक्त उठाने लगे जब उनसे पूछा जा रहा था कि भारतीय नागरिकों को बाहिःफ़ाजत निकालने में देर क्यों हो रही है!

इसके बाद इन छात्रों को हीन साबित करने की मुहिम चल पड़ी। वे अयोग्य हैं, भारत में 'नीट' में उत्तीर्ण नहीं हो पाते, इसलिए बाहर जाते हैं। इस तरह के बयान इस सरकार के मंत्री ढिठाई से दे रहे हैं। मानो, अगर ऐसा है तो उन्हें मरने के लिए छोड़ देना चाहिए!

और फिर सुरक्षा की गुहार लगाते बच्चों पर लानत भेजी जाने लगी कि क्या उन्हें लाने के लिए पालकी भेजी जाए! कर्नाटक निवासी नवीन की रूसी हमले में मौत के बाद की प्रतिक्रियाएं स्तब्ध कर देती हैं। सरकार समर्थक लोग एक के बाद एक ही जुबान में पूछने लगते हैं कि वह अब तक वहां था ही क्यों!

जो दुख में है, पीड़ित है, उसी की खिल्ली उड़ाने का

नया रिवाज इस देश में चल पड़ा है। इसे क्या मात्र क्षुद्रता कहा जाए? या यह बड़ा चारित्रिक पतन है?

आपको याद हो कि नोटबंदी के बाद प्रधानमंत्री ने दूर देश जापान में उन लोगों की खिल्ली उड़ाई थी जिन्होंने शादी का इंतजाम कर लिया था लेकिन अचानक पाया कि उनके हाथ से पैसे खींच लिए गए हैं। हमारे देश में दुश्मन के घर भी विवाह में विघ्न पैदा करना पाप माना जाता है। लेकिन प्रधानमंत्री ने अंगूठा दिखाते हुए उन तमाम लोगों के दुख का मजाक बनाया और उन्हें सुनने वालों ने ठहाका लगाया और ताली बजाई!

उसी तरह जब कोरोना वायरस संक्रमण के दौरान तालाबंदी के चलते बेकार और बेघरबार कर दिए गए मजदूरों ने पैदल अपने गांव वापस जाना शुरू किया तो शासक दल के सांसद ने उनकी खिल्ली उड़ाते हुए कहा कि अभी इन्हें अपने रिश्तेदारों से मिलने की सूझी है!

किसानी से जुड़े कानूनों का विरोध करने जब किसान अपने घर-गांव छोड़कर दिल्ली की सरहद पर धरना देकर बैठे तो उनका मजाक उड़ाते हुए कहा गया कि ये संघर्ष कहां कर रहे हैं, ये तो पिज्जा खा रहे हैं।

यह सब कुछ परले दरजे की नीचता है लेकिन इसमें अब हर कुछ दिन पर प्रधानमंत्री और उनके दल के लोग नया रिकॉर्ड बनाते हैं। ऐसा वे क्यों कर पा रहे हैं? क्योंकि जनता ताली बजा रही है।

याद है, जब प्रधानमंत्री ने, जब वे प्रधानमंत्री नहीं थे, तब '55 करोड़ रुपये की गर्लफ्रेंड' कहकर शशि थरूर पर फ़ब्टी कसी तो जनता ने ताली बजाई। फिर जब सोनिया गांधी को 'जर्सी गाय' कहा तो और ताली बजी।

उसके भी पहले 2002 में गुजरात में हिंसा के शिकार मुसलमानों के राहत शिविर तोड़ देने पर तत्कालीन मुख्यमंत्री ने कहा था कि वे आतंकवादियों को पैदा करने की फैक्ट्री नहीं चलने दे सकते। इस पर भी ताली बजी थी। 'हम पांच, हमारे पच्चीस' नहीं चलने दे सकते, उनके इस भाषण पर ताली बजी।

हमने हर बार ताली बजाई। एक राजनेता ने जब इसे नीचता कहा तो हम उस पर टूट पड़े। नीचता को नीचता कहने की हिम्मत कैसे हुई? यह तो असभ्यता है!

फिर हर संवैधानिक पद से इस छिछोरेपन का प्रचार

किया गया। विधायकों और सांसदों की तो बात ही रहने दें, राज्यपाल और मुख्यमंत्री, हर किसी ने अपनी ज़बान को बेलगाम छोड़ दिया।

एक ने कहा कि वे राहुल गांधी से नहीं पूछते कि उनके पिता कौन हैं। एक राज्यपाल ने सावित्रीबाई फुले की प्रतिमा के अनावरण के समय ठी-ठी करते हुए उनके बाल विवाह का मजा लिया। कोई वक्त था जब पद व अवसर की गरिमा हुआ करती थी। अब कुछ नहीं बचने दिया गया है।

सांसद और सड़क का फर्क मिट गया। शासक दल के नेताओं की भाषा को सम्मानपूर्वक सड़कछाप ही कहा जा सकता है। चुनाव प्रचार का लाभ उठाकर एक 70 साल का वृद्ध मुंह गोल करके 'दीदी ओ दीदी' की फब्टी कसता है।

वह देश के सर्वोच्च पद पर है। सड़क के शोहदों को इस अंदाज में खासा अपनापन मालूम पड़ता है। बाकी सभ्यजन मुंह फेरकर इस पर मुस्कराते हैं और उस औरत की अस्वस्ति का अनुमान कर आनंद लेते हैं।

हमें सोचना होगा कि ऐसा क्योंकर हुआ। हमारे भीतर बैठी अश्लीलता, क्षुद्रता को सहलाकर, उसे उत्तेजित करके इन नेताओं ने हमसे समर्थन हासिल किया। इन्होंने बताया कि फूहड़पन से बाहर निकलने की मेहनत नहीं करनी है। भाषा और भाव को संवारने का श्रम नहीं करना है।

हम जिस कीचड़ में हैं, वहीं पड़े रहने में आनंद है। इस तरह जनता और नेता के बीच एक अटूट रिश्ता कायम हुआ। आप मुसलमानों को खुलेआम गाली दें, प्रधानमंत्री मन ही मन मुस्काते रहेंगे। आप उन्हें गोली मारने का नारा लगाएं, मंत्री के रूप में आपकी पदोन्नति कर दी जाएगी।

आप जितना नीचे गिरेंगे, सामाजिक और राजनीतिक तौर पर आपके ऊपर उठने की संभावना उतनी ही बढ़ जाएगी। जो सभ्य तरीके से बात करे, शालीनता से पेश आए, उसे कमजोर, दीन-हीन माना जाएगा। जो ताकतवर है पहले से वह समाज से शालीनता, शिष्टाचार का बोध मिटा देना चाहता है।

एक बार सभ्यता-बोध शिथिल हो जाए, फिर हत्या आसान हो जाती है। क्या इसे समझने के लिए हमें किसी और देश या किसी और काल में जाना होगा?

साभार : thewirehindi.com

हिजाब, हलाल, नवरात्रि के बहाने मोदी का भारत मुसलमानों को नहीं बल्कि हिंदुओं को दे रहा है संदेश

वीर सांघवी

//

धीरे-धीरे ही सही लेकिन अब देश में कोई यह नहीं कहता कि हिंदू उत्पीड़ित हैं,
बल्कि अब तो हिंदुओं का बोलबाला है।

नवरात्रि के दिनों में अगर कोई गैर-हिंदू व्यक्ति मटन बिरयानी खाता है तो क्या इससे आपको परेशानी होती है? अगर कुछ चीजों पर 'हलाल' का लेबल लगा दिया जाता है तो इससे आपको क्या

बहुत फर्क पड़ता है? या कोई स्कूली छात्रा अपने सिर को किसी कपड़े से ढकती है तो क्या आपको कोई दिक्कत होती है?

मैं तो यही उम्मीद करता हूँ कि इन सवालों का जवाब यही



मिलेगा—‘नहीं, नहीं। वाकई कोई फर्क नहीं पड़ता’। कोई भी आपको मटन बिरयानी खाने या उसे खा रहे किसी आदमी को देखने के लिए जोर-जबरदस्ती नहीं कर रहा है। आप तो यह भी नहीं जानते कि हलाल का लेबल वास्तव में क्यों लगाया जाता है। और कोई लड़की अगर अपने सिर पर हिजाब रखकर स्कूल जा रही है या कोई सिख छात्र पगड़ी बांध कर स्कूल जा रहा है तो इससे आपका जीवन कतई प्रभावित नहीं होता।

फिर भी, मेरे लिए दिलचस्पी का विषय यह है कि इन दिनों भारत में इस तरह के मुद्दे सार्वजनिक बहस में कैसे हावी हो रहे हैं। तरीका आम तौर पर एक जैसा ही है। जोकर किस्म का कोई शख्स जिसके बारे में आपने कभी कुछ सुना नहीं (आम तौर पर कोई राजनीति का कोई छुटभैया खिलाड़ी) कोई अपमानजनक टिप्पणी कर देता है कि हिंदू पर्व-त्योहार के दौरान मांस की दुकान खुली रहे यह कितनी बुरी बात है / कि हिजाब जैसी चीज स्कूल यूनिफॉर्म को किस तरह चुनौती दे रही है / कि हलाल जैसे लेबल से हमारी राष्ट्रीय पहचान किस तरह खतरे में पड़ गई है।

पहले तो आप इस तरह की बातों पर ध्यान नहीं देते क्योंकि आपको लगता है कि कोई फालतू आदमी आत्मप्रचार के लिए यह सब कह रहा है। लेकिन इस तरह की मांगों को बार-बार उठाया जाता है, सोशल मीडिया में उछाला जाता है। ट्वीटर और फेसबुक पर अच्छी-खासी बहस आयोजित की जाती है। इसकी शुरुआत फर्जी पहचान वालों और कंट्रोल रूम के मेजबानों के द्वारा की जाती है लेकिन आगे चलकर आम जनता भी इसमें भाग लेने लगती है। अपना-अपना पक्ष ले लिया जाता है और मोर्चेबाजी शुरू हो जाती है।

और तब, चूंकि यह सामाजिक सरोकार का चिंतनीय मुद्दा बन जाता है, गंभीर राजनेता भी इस बहस में कूद पड़ते हैं। स्कूलों में हिजाब पहनने पर रोक लगा दी जाती है। मांस की दुकानों को बंद करने पर मजबूर किया जाता है। हलाल वाले मसले की आधिकारिक जांच का फैसला किया जाता है, आदि-आदि।

यह सब जब शुरू हुआ था तब मैं सोचा करता था कि हम भी कितने मूर्ख हैं कि बेमानी मसलों पर बहस में अपना समय गंवाते रहते हैं। बेशक इनसे ज्यादा महत्वपूर्ण मुद्दे कई थे जिनकी हमें चिंता होनी चाहिए थी। हम हिजाब को सामाजिक परिधान का हिस्सा बनाने के पक्ष में हों या न हों, यह ऐसा सवाल नहीं है जिसको लेकर हम परेशान हो जाएं। हलाल वाला मसला भी ऐसा ही है। जानवरों को काटने के कई तरीकों के बीच के फर्क (व्यापक अर्थ में) की जानकारी मुझे है लेकिन हर बार सीक कबाब खाते हुए मैं यह नहीं सोचने लगता कि इसका मीट झटका है या हलाल।

मैं जिस तरह का मंदबुद्धि हूँ उसके कारण इधर दो साल से मैं यह समझने लगा हूँ कि ये सारी बहसों और विवाद पूरी तरह गढ़े हुए हैं। नेता लोग चाहते हैं कि हम इन मसलों में उलझे रहें। वे चाहते हैं कि हम इन मामलों को महंगाई, पेट्रोल-डीजल की रोज बढ़ती कीमतों जैसे मुद्दों से ज्यादा महत्वपूर्ण मानें।

संदेश हिंदुओं के लिए

अंततः मैंने जब इसका भेद पता लगा लिया तब मुझे विश्वास हो गया कि इस सबके पीछे मंशा मुस्लिम अल्पसंख्यकों को नीचा दिखाने की है। मुसलमानों को यह महसूस कराया जाए कि उनके रीति-रिवाज हिंदू समाज के लिए अभिशाप हैं और हम या तो उन्हें बिलकुल बर्दाश्त नहीं करेंगे या बर्दाश्त करेंगे भी तो क्षमाभाव से। संदेश यह है कि अब यह उनका देश नहीं है। उन्हें कुछ छूट दी जाएगी, लेकिन हिंदू बहुसंख्यकों की मर्जी और इजाजत से ही दी जाएगी। क्योंकि भारत अब एक हिंदू राष्ट्र बन चुका है।

मुझे पक्का यकीन है कि इस नजरिए में कुछ दम है। लेकिन इसके बारे में जितना सोचता हूँ उतना ही यह असंतोषजनक लगता है। मुसलमानों को मालूम है कि एक धर्मनिरपेक्ष देश में समान नागरिक के तौर पर उनकी हैसियत खतरे में है। अपवाद, नैतिक रूप से शून्य और राजनीतिक महत्वाकांक्षा रखने वाले को छोड़ दें तो अधिकतर मुस्लिम लोग भाजपा को वोट देना तो दूर, उसके साथ कोई ताल्लुक भी नहीं रखना चाहते। इसलिए, मुसलमानों और उनके रीति-रिवाजों को बार-बार निशाना बनाने से किसे लाभ होने वाला है?

हाल में जाकर ही मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि उन विवादों और बहसों के लक्ष्य मुसलमान कतई नहीं बल्कि हिंदू हैं। जैसा कि मैं अक्सर कहता रहा हूँ, भाजपा का यह अवतार इसलिए सफल रहा है क्योंकि उसने हिंदूवाद को वोट जीतने का हथियार बना लिया है। अल्पसंख्यकों से केवल पहचान के आधार पर वोट दिलवाना मुश्किल नहीं है, लेकिन 80 फीसदी आबादी वाले और मुसलमानों की तुलना में अधिक संपन्न और शिक्षित हिंदुओं से ऐसा करवाना मुश्किल है। आप उन्हें बाकी सभी सरोकारों को गौण करके हिंदू के रूप में वोट देने के लिए कैसे राजी करेंगे? इसका संक्षिप्त जवाब यह है कि आप सांप्रदायिक तापमान को ऊंचा रखें। हर बात को हिन्दू-मुस्लिम विवाद में बदल दें।

उत्पीड़ित हिंदू से हावी हिंदू तक

शुरू में कहा जाता रहा कि हिंदू उत्पीड़ित हैं। लालकृष्ण आडवाणी जब टोयोटा रथ पर रामायण के पात्रों के वेश में सजे बेरोजगार अभिनेताओं के साथ सवार हुए थे और हिंदुओं को यह समझाया था कि अपने ही देश में वे अल्पसंख्यकों जैसे हो गए हैं, तभी से भाजपा के मंच से हिंदुओं को दोगुना दर्जे के नागरिक

बताना एक अहम काम बन गया।

वह कहानी आज भी चल रही है, लेकिन सच कहे तो नरेंद्र मोदी और अमित शाह के दौर में वह कुछ कमजोर पड़ रही है। कौन हिंदू आज यह मानने को तैयार होगा कि आज के भारत में उसके साथ भेदभाव हो रहा है? इसलिए, इसकी जगह एक नई कहानी पेश की जा रही है। कहा जा रहा है कि पुरानी 'सेकुलर' सरकारों ने मुसलमानों को कई विशेषाधिकार दे दिए। अब जबकि हिंदुओं ने कमान थाम ली है तो उन विशेषाधिकारों की जांच करने और वापस लेने का समय आ गया है। मुसलमानों को यह इजाजत क्यों दी जाए कि वे अपनी बेटियों को हिजाब पहनाकर स्कूल भेजें? क्या उन्हें पता नहीं है कि वे सऊदी अरब नहीं बल्कि हिंदू भारत में रह रहे हैं?

या, हिंदुओं की बहुसंख्या वाले देश को हलाल जैसी इस्लामी प्रथाओं को क्यों बर्दाश्त करना चाहिए? या, इन लोगों को यह बुरा नहीं लगता कि हम तो निरामिष भोजन का अनुशासन मानने वाला त्योहार मना रहे हैं और ये बिरयानी खा रहे हैं? यह नहीं चलेगा। यह हिंदू देश है। हमारी भावनाओं और रिवाजों का सम्मान होना ही चाहिए। या कल्पना विहीन नेताओं का आखिरी तीर—मुसलमानों को नमाज की अज्ञान देने के लाउडस्पीकर का इस्तेमाल करने का अधिकार क्यों दिया जाए? क्या उन्हें मालूम नहीं है कि इससे हिंदुओं को परेशानी होती है? यह पाकिस्तान नहीं है। या, मुसलमान लोग शुकवार को खुले में नमाज पढ़ने के लिए ट्रैफिक जाम क्यों करें? क्या यह कोई इस्लामी मुल्क है? उन्हें इस तरह की असुविधा देने की

इजाजत क्यों दी जाए?

धीरे-धीरे मगर निश्चित रूप से, यह कहानी अब हटाई जा रही है कि हिंदू प्रताड़ित हैं। इसकी जगह हिंदू वर्चस्व की कहानी आ गई है। संदेश यह है कि हमने अपने देश को वापस हासिल कर लिया है और तथाकथित सेकुलर नेताओं ने तुम मुसलमानों को अपना वोट बैंक बनाने के लिए तुम्हें जो विशेष अधिकार दिए थे वे अब एक-एक करके खत्म किए जाएंगे।

नफरत की आग जलाए रखो

सभी हिंदू इसे कबूल नहीं करते। हिंदू धर्म स्वभावतः सहिष्णु और शांति प्रेमी है। इसलिए हिंदुओं को बिना किसी असली कारण के मुसलमानों खिलाफ भड़काना आसान नहीं है। लेकिन ऐसा न भी हो, और हिंदू लोग हिजाब पहने लड़कियों या हलाल के खिलाफ खड़े नहीं होते तब भी इन मुद्दों को उठाने वालों की जीत होगी।

हम उनके बारे में बात कर रहे हैं, हर दो हफ्ते में कोई-न-कोई नया हिंदू-मुस्लिम विवाद भड़का दिया जाता है तो इसका

अर्थ यही है कि सार्वजनिक विमर्श पर सांप्रदायिक मुद्दे हावी हैं। हर चीज में हिंदू-मुस्लिम विवाद खड़ा किया जाता है। मुद्दों को जिस तरह पेश किया जाता है उससे मुसलमानों को ही जलील किया जाता है, चाहे वह हलाल हो या हिजाब हो या अज्ञान आदि का मामला हो। यह हिंदुओं के ऊपर है कि वे तय करेंगे कि इस सबको बर्दाश्त करेंगे या नहीं।

इसलिए हिंदू सांप्रदायिक तत्व जैसे विषय उठाते हैं जो वर्षों से चर्चा में रहे हैं (कि नवरात्रि में निरामिष रहने की कोई मजबूरी नहीं है या मीट प्रायः हलाल के तरीके से ही तैयार किया जाता है) और दिखावा ऐसे करते हैं मानो ये नए मुद्दे हैं। उदारवादी लोग इन विषयों पर मुसलमानों का बचाव करने के जाल में फंस जाते हैं। इस तरह, सांप्रदायिक तत्व एजेंडा तय करने में सफल हो जाते हैं।

माहौल में सांप्रदायिक बनाने का खतरा यह है कि मुद्दों को बहस के दायरे से बाहर निकालकर सड़कों पर लाना आसान हो जाता है। आज का विवाद अक्सर कल दंगे में बदल जाता है। और भाजपा वह स्थिति नहीं चाहती कि दंगे भड़कें। उसका एक दावा यह भी है कि देश में जबसे उसकी सरकार आई है, दंगे काफी कम हुए हैं।

इसलिए—और यह शानदार चाल है—विवाद को कभी इतना गरम नहीं होने दिया जाता कि दंगा भड़के। बल्कि सांप्रदायिक तापमान को हमेशा ऊंचा रखा जाता है। इसे इतना गरम रखा जाता है कि विमर्श पर हावी रहे और हिंदू-मुस्लिम विवाद पर जोर बना रहे। लेकिन शायद ही यह कभी इतना गरम होता है कि हिंदुओं को कानून-व्यवस्था के लिए खतरा महसूस हो।

यह मुश्किल संतुलन है और मैं नहीं जानता कि यह हमेशा कायम रहेगा या नहीं। उत्तर प्रदेश में गोमांस के खिलाफ अभियान कत्ल और लिंचिंग तक पहुंच गया तो भाजपा ने कदम खींच लिये और प्रधानमंत्री मोदी ने खुद इसके खिलाफ आवाज उठाई। तब से इस अभियान पर लगाम लगा। फिर भी यह देखना होगा कि वे कब तक अहिंसक बने रहते हैं।

लेकिन अब हम इसी भारत में रह रहे हैं। आजादी और बंटवारे के बाद के सात दशकों तक हम अतीत के जख्मों को कुरेदते और वर्तमान की चुनौतियों की अनदेखी करते रहे। जहां भारत की जीत होनी चाहिए थी वहां सांप्रदायिक राजनीति जीत गई। और हम आगे बढ़ने की जगह उन वृत्तों में चक्कर लगाते रहे जो निरंतर छोटे होते गए हैं।

(वीर सांघवी भारतीय प्रिंट और टीवी पत्रकार, लेखक और टॉक शो होस्ट हैं। उनका ट्विटर हैंडल @virsanghvi है। व्यक्त किए गए विचार निजी हैं)

साभार : <https://hindi.theprint.in>

जब सभ कर दोउ हाथ पग दोउ नैन दोउ कान रविदास पृथक कइसे भये हिंदू औ मूसलमान

कृष्ण प्रताप सिंह

//

संत कवियों की लंबी परंपरा में एक रविदास ही ऐसे हैं जो श्रम को ईश्वर बताकर ऐसे राज्य की कल्पना करते हैं,
जो भारतीय संविधान के समता, स्वतंत्रता, न्याय व बंधुत्व पर आधारित अवधारणा के अनुरूप हैं।

हमारे इस निरंतर असामान्य और कठिन होते जा रहे समय में संत कवि रविदास का व्यापक पुनर्पाठ बेहद जरूरी है। इसलिए कि जब सभी तरह की स्वतंत्रताओं व इंसाफों की साझा दुश्मन आर्थिक विषमता की दुनिया भर में ऐसी पौ-बारह हो गयी है कि उसकी संपत्ति का 82 फीसदी हिस्सा एक प्रतिशत धनकुबेरों के कब्जे में चला गया है और ये 'एक प्रतिशत' हमारे देश की भी कम से कम 73 प्रतिशत संपत्ति अपने नाम कर चुके हैं।

संत कवियों की लंबी परंपरा में एक रविदास ही ऐसे हैं जो श्रम को ईश्वर बताकर इस एक प्रतिशत की अनैतिकताओं की खिल्ली उड़ाते और ऐसे राज्य की कल्पना करते हैं, जो भारतीय संविधान के समता, स्वतंत्रता, न्याय व बंधुत्व पर आधारित कल्याणकारी राज्य के संकल्प व अवधारणा के अनुरूप हैं।

उन्हीं के शब्दों में कहें तो वे ऐसा मानवतावादी कल्याणकारी राज्य चाहते हैं 'जहं मिलै सभन को अन्न, छोट बड़ो सभ सम बसैं रैदास रहै प्रसन्न'

जाहिर है कि हिन्दी की भक्ति काव्यधारा में उनकी अपनी सर्वथा अलग व विलक्षण पहचान है, लेकिन दूसरे संत कवियों की ही तरह उनके जन्म व जीवन आदि के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती। जो मिलती है, उसके अनुसार विक्रम संवत् 1441 से 1455 के बीच रविवार को पड़ी किसी माघ पूर्णिमा के दिन मांडुर नामक गांव में उनका जन्म हुआ।



यह मांडुर उत्तर प्रदेश के वाराणसी जिले में मंडेसर तालाब के किनारे मांडव ऋषि के आश्रम के पास स्थित वही गांव है, जो अब मंडुवाडीह कहलाता है। उनके पिता का नाम रघू अथवा राघव था जबकि माता का क्रमा, जिन्हें सामाजिक गैरबराबरी व ऊंच-नीच के पैरोकार हिकारत से 'घुरबिनिया' कहते थे।

उनका लोक प्रचलित नाम रैदास है जो उनकी रचनाओं में बार-बार आता है। उनके समय में अस्पृश्यता समेत वर्ण व्यवस्था की नाना व्याधियां देश के सामाजिक मानस को आक्रांत कर सहज मनुष्यता का मार्ग अवरुद्ध किये हुए थीं।

अन्त्यज (अछूत) के रूप में खुद उनकी जाति पर भी उनका कहर टूटता रहता था। वे इन व्याधियों को धर्म व संस्कृति का चोला पहन कर आती और स्वीकृति पाती देखते, तो कुछ ज्यादा ही त्रास पाते थे।

ऐसे में स्वाभाविक ही था कि एक पीड़ित के रूप में वे तत्कालीन धर्म व संस्कृति को उस रूप में न लें, जिसमें राम झरोखे बैठकर मुजरा लेने वाले दूसरे संत कवि ले रहे थे।

तभी तो वे अपनी रचनाओं में इन कवियों से अलग, प्रतिरोधी और वैकल्पिक नजरिये के साथ सामने आते और उस श्रमण संस्कृति से ऊर्जा ग्रहण करते दिखाई देते हैं, जो उन दिनों की मेहनत-मजदूरी करने वाली जनता का एकमात्र अवलम्ब थी।

इसी संस्कृति ने रविदास को तमाम पाखंडों व कुरीतियों के विरुद्ध मुखर होने की शक्ति दी। यह कहने की भी कि वे किसी भी नाम पर पाखंडों को स्वीकार नहीं करने वाले। यहां तक कि भक्ति के नाम पर भी नहीं और उनके निकट बेदीन होना व पराधीन होना एक जैसी चीजें हैं : पराधीन को दीन क्या, पराधीन बेदीन, रैदास पराधीन को सभे ही समझे हीन।

उनका लगभग सारा साहित्य इन्हीं बेदीन, हीन और पराधीन लोगों से प्रीति व मिताई की गाथा है। जो भी इस प्रीति के आड़े आया, वह चाहे कोई मान्यता या धारणा हो, विचार या दर्शन, रविदास ने उसको झाड़ने व झिंझोड़ने में कोई कोर-कसर नहीं रखी।

ईश्वर, वेद, यज्ञ, आत्मा-परमात्मा, धर्म-अधर्म, जाति-संप्रदाय, वर्ग-वर्ण, छूत-अछूत और भेदभाव की बाबत उनके दो-टूक विचार इसकी जीवंत मिसालें हैं। मनुष्य और मनुष्य में भेद करने वाले हर सिद्धांत, कर्मकांड, आडम्बर और विश्वास पर उन्होंने लानतें भेजीं।

एक जगह भक्ति को भी दासता का गुण बता डाला और कहा कि ईश्वर को जप-तप, व्रत-दान, पूजापाठ, गृहत्याग व इन्द्रियदमन आदि की मार्फत नहीं पाया जा सकता, न ही जटाएं बढ़ाकर गुफाओं व कंदराओं में खोजने से। वह मिलेगा तो बस मानव प्रेम में क्योंकि वह प्रेम में ही निवास करता है।

रविदास व्यवस्था देते हैं कि जन्म के कारणों से कोई ऊंचा-नीचा नहीं होता। नीच तो वास्तव में वे हैं, जिन्हें ओछे कर्मों की कीच लगी हुई है। संत रविदास ने अपने समय में जिन मानवतावादी मूल्यों के लिए संघर्ष किया, जैसे आदर्श समाज की कल्पना की और अच्छे राज्य की जो अवधारणा पेश की, वह हू-ब-हू हमारे संवैधानिक संकल्पों जैसी है : ऐसा चाहौं राज मैं जहं मिलै सभन को अन्न, छोट बड़ो सभ सम बसैं रैदास रहै प्रसन्न।

यह अवधारणा उन्हें वसुधैव कुटुम्बकम की भावना से भी आगे ले जाती है। इस तर्क तक कि जब सभी लोग हाड़-मांस व खून के ही बने हैं, तो भिन्न या छोटे बड़े कैसे हो सकते हैं : जब सभ कर दोउ हाथ पग दोउ नैन दोउ कान, रविदास पृथक कइसे भये हिंदू औ मूसलमान ?

मानवीय नैतिकता के किसी भी नियम से इस पार्थक्य को सही नहीं ठहराया जा सकता और रविदास इसी बात को अपनी बौद्धिक प्रतिभा, तर्कशक्ति, अनुभव व विवेक से सिद्ध करके बार-बार कहते हैं। अन्त्यज श्रमजीवी के तौर पर गुजरी उनकी जिंदगी भी हमें कुछ कम संदेश नहीं देती।

अब तो वह मिथक सी हो गई है। उनसे जुड़ा एक बहुप्रचारित मिथक 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' वाला है, जिसमें

सिद्ध किया गया है कि मन मैला न हो तो कर्म व कर्तव्यपालन की कठौती भी गंगा है और मन में भरे हुए मैल को निकाले बिना गंगास्नान से भी कोई पुण्यखाता नहीं खुला करता।

एक और किंवदंती है : वे अपनी साधुता के कारण घर से अलग कर दिये गये हैं और भीषण गरीबी में रहते हैं। उनकी गरीबी दूर करने के लिए पारस पत्थर लाया जाता है, जिसमें ऐसी शक्ति है कि उसे जिस भी पत्थर में छुआ दिया जाये, वह सोने में बदल जाये।

एक संत उनसे बार-बार अनुरोध करते हैं कि वे पारस का इस्तेमाल करके ढेर सारे पत्थरों को सोने में बदल लें और अमीर हो जायें। रविदास उनकी अनसुनी करते रहते हैं। लेकिन एक दिन संत का अनुरोध जिद में परिवर्तित हो जाता है, तो वे उनको दिखाकर अपनी रांपी उठाते और अपने माथे पर चुहचुहा रहे पसीने से छुआ देते हैं। रांपी सोने में बदल जाती है और जिदी संत का चेहरा बुझ जाता है।

इस किंवदंती की शिक्षा इसके सिवा और क्या हो सकती है कि किसी श्रमजीवी के लिए उसका पसीना ही पारस पत्थर है और उसको पारस से ज्यादा अपने पसीने पर भरोसा करना चाहिए।

कई और किंवदंतियां हैं, जो रविदास को चमत्कारिक व्यक्तित्व से परिपूर्ण तो सिद्ध करती हैं लेकिन प्रगतिशील विचारक और क्रांतिद्रष्टा महापुरुष की उनकी छवि से न्याय नहीं करतीं। परंपरावादी ठहराने लगती हैं, सो अलग।

दलित विचारक अंगनेलाल के अनुसार ऐसी किंवदंतियां उन लोगों ने गढ़ दी हैं, जिनके पास रविदास के इस प्रश्न का उत्तर नहीं था : एकै चाम एक मल-मूत्र, एक खून एक गूदा, एक बूंद से सभ उत्पन्ने को बाभन को सूदा।

इससे खीझे हुए लोग चाहते थे कि रविदास की अपनी परंपरा का स्वतंत्र विकास न हो और वे खुद हारकर उनकी परंपरा में चले जायें। लेकिन रविदास अविचलित रहे।

भारतभूमि पर वे संभवतः पहले ऐसे संत हुए जिसने सम्यक आजीविका पर जोर देकर लोगों को नेक कमाई की शिक्षा दी और उसे ही धर्म मानने को कहा : श्रम को ईश्वर जानि कै जो पूजै दिन रैन, रैदास तिन संसार मा सदा मिलै सुख चैन

श्रम को ही ईश्वर बताने वाले अपने इस गुरु को वृद्धावस्था में उसकी प्रिय शिष्या मीरा ने आग्रहपूर्वक चितौड़ बुलाया तो वहां कुछ विद्वेषियों ने धोखे से पत्नी लोना समेत रविदास की हत्या कर उनके शरीरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। तब इतिहास ने इस तथ्य को भारी हृदय के साथ अपने पृष्ठों में दोहराया और दर्ज किया : मानुषता को खात है रैदास जाति को रोग।

साभार : thewirehindi.com

त्योहारों का दिनकर

सीतेय

//

जब से मनुष्य ने रात, दिन, माह, वर्ष आदि की गणना प्रारंभ की, उसी के साथ उसे पता चला कि वर्ष में कौन-सा दिन सबसे लंबा और सबसे छोटा होता है। बस मिल गया उत्सव मनाने का एक और बढ़िया मौका...

विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में सूर्य को देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। सूर्य के पूजन के साक्ष्य कई स्थानों से प्राप्त होते हैं, कहीं प्रतीक रूप में तो कहीं से विग्रह के रूप में। जाहिर है, यदि देव हैं तो देवस्थान भी और देवस्थान हैं तो देवोत्सव भी होंगे। सूर्य देवता से जुड़े कुछ प्राचीन उत्सव समय की तीव्र चाल में कहीं पीछे छूट गए, तो कुछ उत्सवों ने अपने आप को नए रंग में ढालकर नए संसार में अपनी जगह बना ली। लिहाजा, इस नीले-हरे गोले का एक छोटा-सा और तीव्र चक्कर लगा आते हैं और कुछ सभ्यताओं की जमीन पर कदम रख शरीक होते हैं उनके उत्सव में। क्योंकि यह दुनिया एक छोटा-सा गांव ही तो है और हम सब बंधु ही तो हैं, प्रिय!

सबसे पहले सुदूर पश्चिम तक छलांग लगाइए और आ पहुंचिए, दक्षिण अमेरिकी राष्ट्र पेरू में। यहां पूरे दक्षिण गोलार्ध की तरह शीतकालीन अयनांत जून माह में मनाया जाता है। 15वीं शताब्दी का समय है। इका साम्राज्य का परचम फहरा रहा है। इका अपने सूर्य देवता इंटी के सम्मान में इंटी रायमी नामक सूर्य उत्सव मना रहे हैं। अयनांत के तीन दिवस पूर्व से ही उन्होंने व्रत रख लिया था। चौथे दिन सूर्योदय का समय है और लोग इकट्ठे होकर सूर्य के उगने का इंतजार कर रहे हैं। जैसे ही सूर्य उगा, सब ने झुककर देव को प्रणिपात किया और स्वर्ण चषक में चीचा नामक पवित्र मद्य अर्पित कर रहे हैं। पशुबलि का भी विधान है...

...लेकिन उससे पहले ही निकलते हैं और उत्तर अमेरिका के मैक्सिको चलते हैं। जुनी लोग शीतकालीन अयनांत पर नववर्ष मना रहे हैं और शलाको नामक नृत्य कर रहे हैं। अयनांत के कुछ दिवस पहले से ही व्रत, प्रार्थना और सूर्योदय व सूर्यास्त का समय देखकर पेकिन (सूर्य पुजारी) ने सूर्य के पुनर्जन्म की नियत तिथि की घोषणा कर दी थी। घोषणा के साथ ही 12 कचीना बहुरूपिए चेहरे पर मुखौटा पहने नृत्य करने लगे हैं, जो चार दिन तक चलेगा। इतना वक्त तो नहीं...

...इसलिए निकलते हैं और अफ्रीका के मिस्र में ठहरते हैं। यहां के रेमसेस द्वितीय द्वारा निर्मित अबु सिम्बेल मंदिर में प्रवेश कीजिए। सामने विशालकालय प्रतिमाएं हैं, बराबर बैठी हुई। एक हैं रा (सूर्य देव), दूसरे हैं अमुन (देवों के राजा) तीसरे हैं फेरो रेमसेस द्वितीय और

चौथे हैं, ताह (अंधकार के देव)। 22 फरवरी का दिन है, और सूर्य रश्मियां भीतर तक दौड़ी आ गई हैं, आलोकित कर रही हैं ताह देव को छोड़कर तीनों देवताओं को। यही संयोग 22 अक्टूबर को भी देखने को मिलेगा। तब फिर आएंगे...

...लेकिन अभी करीब-करीब 2,300 किमी पूर्व की ओर सफर कीजिए और ईरान उतरिए। दिसंबर का वक्त है, वर्ष की सबसे लंबी रात है और लोग शब-ए-यलदा (जन्म की रात) के जश्न में डूबे हैं। आज सूर्यदेव मित्रा या मिश्रा : अंधकार पर विजय पाते हैं, जश्न इसी का है। लोगों ने मिलजुलकर जगह-जगह अलाव जलाए हैं, धर्मार्थ दान किया जा रहा है। दुआओं के साथ खाद्य पदार्थों के आदान-प्रदान के साथ ही 14वीं शताब्दी के पर्शियन कवि हफीज की कविताएं कानों तक पहुंच रही हैं। कुछ लोग कह रहे हैं, वे तो सुबह तक जागेंगे। पर हम तो नहीं जाग पाएंगे...

...तो थोड़ा और पूर्व में चीन आ पहुंचते हैं। चीनी नए वर्ष के 6 हफ्ते पहले का समय है, शीत अयनांत का। डोंग झी (अर्थात् शीत आ चुका है) उत्सव चल रहा है। एक ने बताया कि इस दिन हर व्यक्ति की उम्र एक वर्ष गुजर जाती है। हालांकि आज आधिकारिक छुट्टी नहीं है। दूसरे ने बताया, इसकी शुरुआत फसल काटे जाने के उत्सव के रूप में हुई थी और हाथ में थमा दिया तांग युआन नामक चावल का लड्डू...

...चीन से पूर्व के अंतिम छोर तक पहुंचकर ठहरिए जापान में। किसानों में उत्साह है कि कड़ाके की सर्दी के बाद वे फिर से फसल उगा सकेंगे। शीत अयनांत की रात है और लोगों ने अलाव जला दिए हैं। फुजी पर्वत पर भी एक विशाल अलाव दिखाई पड़ रहा है। इसके बाद लोग युजु नामक एक खट्टे फल की सुगंध से युक्त जल से स्नान करेंगे। कहते हैं, इससे ठंड भागती है और स्वास्थ्य ठीक रहता है। इसके बाद जापानी कद्दू को खाया जाएगा, जिससे सौभाग्य में वृद्धि होगी...

...हम तो नहीं खा सकते इसलिए मकर संक्रांति के उत्सव पर लौट आइए स्वदेश और आसमान छूती रंग-बिरंगी पतंगों के साथ-साथ दावत उड़ाइए तिल के लड्डू, तिल चक्री, गजक और गुड़ के लजीजतरीन मिष्ठानों की।

साभार : अहा! जिंदगी

संक्रांति के मौके पर आसमान में रंग भरने वाले

प्रतिष्ठा पांडेय

//

खंभात और अहमदाबाद की पतंग बनाने वाली महिलाओं का कठोर जीवन, उनकी मेहनत से रोशन होने वाले रंग-बिरंगे आसमान के बिल्कुल विपरीत है



मकर संक्रांति के मौके पर केवल अहमदाबाद की ही हजारों गलियों से छूटकर वे हवा में लहराने लगेंगी। यह किसी भी जानी-पहचानी हवाई कलाबाजी से अधिक रंगीन और खूबसूरत नजारा होता है। इनके मालिक और पायलट दोनों ही ज़मीन पर होते हैं। इनमें से कोई भी यह बात नहीं जानता कि हवा में लहराने वाले कारीगरी के इस सुंदर नमूने को तैयार करने में करीब आठ लोगों तक की मेहनत लग जाती है और शिल्पकार

साल भर काम करते हैं, ताकि यह उद्योग चलता रहे। इस काम को करने वालों में ज्यादातर ग्रामीण या छोटे शहरों की औरतें होती हैं, जिन्हें ऐसे जटिल, नाजुक, मगर कठिन काम की बहुत कम मजदूरी मिलती है और वे खुद कभी इसे हवा में नहीं उड़ाएंगी।

यह मकर संक्रांति का समय है, और इस हिंदू त्योहार के दौरान शहर में उड़ने को तैयार बहुत सी पतंगें अहमदाबाद और

गुजरात के आणंद जिले के खंभात तालुका की गरीब मुस्लिम व हिंदू चुनारा समुदाय की महिलाओं द्वारा बनाई गई थीं। जाहिर है कि इन्हें उड़ाने वाले ज्यादातर हिंदू हैं।

ये महिलाएं साल के 10 महीने से ज्यादा समय तक पतंग बनाने के काम में लगी रहती हैं, जिसके बदले में उनकी बेहद कम आमदनी होती है। खासकर वे उन रंग-बिरंगी पतंगों पर काम करती हैं जिन्हें 14 जनवरी को आसमान में उड़ाया जाता है। गुजरात में 625 करोड़ मूल्य के इस उद्योग में करीब 1.28 लाख लोग लगे हुए हैं, और हर दस में से सात कामगार महिलाएं ही हैं।

40 वर्षीय साबिन अब्बास नियाज़ हुसैन मलिक कहते हैं, 'एक पतंग को तैयार होने से पहले सात जोड़ी हाथों से गुजरना पड़ता है।' हम उनके 12×10 फुट की दुकान के भीतर बैठे हुए थे, जिसे वह अपने घर के ही एक कोने में चलाते हैं। उनकी दुकान खंभात के लाल महल इलाके की एक छोटी सी गली है में है। और वह हमें बाहर से खूबसूरत दिखने वाले इस उद्योग से जुड़ी ऐसी जानकारियां दे रहे थे जिनके बारे में बहुत कम लोग जानते हैं। वह चांदी के चमकदार कागज में लिपटी हुई पतंगों के पैकेट के पास बैठे हुए थे, जो विक्रेताओं को भेजे जाने के लिए तैयार थीं।

उनके एक कमरे के मकान के फ़र्श पर आधे से अधिक जगह रंगी-बिरंगी पतंगों से भरी हुई थी, जिन्हें अभी पैक किया जाना बाकी था। वह अनुबंध पर काम करने वाले तीसरी पीढ़ी के पतंग निर्माता हैं और अपने 70 कामगारों के साथ सालभर काम करते हैं, ताकि मकर संक्रांति के लिए पतंगों की खेप तैयार की जा सके। आप कह सकते हैं कि उनके हाथ उन पतंगों को संभालने वाली आठवीं जोड़ी है।

श्रद्धालुओं के अनुसार, मकर संक्रांति के दौरान सूर्य, मकर राशि में प्रवेश करता है। यह विभिन्न परंपराओं और नामों के साथ पूरे भारत में मनाया जाने वाला एक फसल उत्सव भी है, जैसे असम में माघ बिहू, बंगाल में पौष पर्व, और तमिलनाडु में पोंगल। गुजरात में इसे उत्तरायण कहते हैं, जो शीतकालीन संक्रांति के दौरान सूर्य की उत्तर दिशा की ओर यात्रा का संकेत देता है। वर्तमान में उत्तरायण पतंगबाजी उत्सव का पर्याय बन गया है।

जब मैं छह साल की थी, तब मैंने अहमदाबाद के पुराने इलाके में स्थित अपने पुश्तैनी घर की छत पर पहली बार पतंग उड़ाई थी, जो उस इलाके की सबसे ऊंची इमारत थी। अच्छी हवा चलने के बावजूद मुझे पतंग उड़ाने के लिए तीन और लोगों की मदद की ज़रूरत पड़ी थी। उनमें से सबसे पहली मदद करने वाले मेरे पिता थे, जिन्होंने किन्ना (धागा) बांधा था।

मदद के दूसरे हाथ मेरी मां के थे, जो कहीं ज्यादा धैर्य के साथ फिरकी और मांझा लेकर खड़ी थीं। और तीसरा एक अनजान पड़ोसी था, जो पड़ोस की इमारत की छत पर मेरी पतंग को पकड़े हुए उसके सबसे आखिरी छोर पर खड़ा था, और उसके हाथ आसमान की ओर फैले हुए थे। हम तब तक इंतज़ार करते रहे, जब तक वह पतला रंगीन कागज हवा के झोंके से फड़फड़ाने न लगा और मैं अपनी पतंग को हवा में ऊपर उड़ा न ले गई।

अहमदाबाद जैसे पुराने शहर में पले-बढ़े लोग पतंगों को उतनी गंभीरता से नहीं लेते। छोटे-बड़े आकार के कागज के इन पंछियों को किसी पुरानी अटारी से निकालकर या फिर उत्तरायण से कुछ दिन पहले पुराने शहर के भीड़भाड़ वाले बाज़ार से उन्हें खरीदकर उड़ाया जाता था। कोई भी इन पतंगों के इतिहास या उसकी कारीगरी के बारे में नहीं सोचता था, तो फिर इसके निर्माताओं की चिंता की तो बात ही छोड़ दीजिए। जबकि ये लोग सालभर सिर्फ इसलिए काम में जुटे रहते हैं, ताकि कुछ समय के लिए हम ये पतंगें हवा में उड़ा सकें। इनके कारीगर तो हमारे लिए पूरी तरह अदृश्य रहे हैं।

इस मौसम में पतंग उड़ाना बच्चों का बेहद पसंदीदा खेल है। लेकिन इन पतंगों को बनाना बच्चों का खेल नहीं है।

साबिन मलिक बताते हैं, 'हर काम अलग-अलग कारीगरों द्वारा किया जाता है। एक कागज काटने का काम करता है, दूसरा उसमें पान (दिल के आकार का नमूना) चिपकाता है, तीसरा डोरी पर काम करता है (पतंग से लगा हुआ धागा), और चौथा इसमें धड्डे (पतंग की पीठ की डंडी) जोड़ता है। इसके बाद, अगला कारीगर कमान (क्रॉस या क्षैतिज डंडी) लगाता है, और फिर एक कारीगर मोर, चिप्पा, माथा जोड़ी, नीची जोड़ी (पतंग के अलग-अलग हिस्सों में चिपकाए गए हिस्से, ताकि उसे संतुलित बनाया जा सके) लगाता है। अंत में एक कारीगर फुदड़ी [पूंछ] बनाता है, जिसे पतंग से जोड़ा जाता है।'

मलिक मेरे सामने हाथ में पतंग पकड़कर उसके हर एक हिस्से के बारे में बताते हैं। मैंने अपनी नोटबुक में उसकी तस्वीर बनाई, ताकि मैं उसे समझ सकूँ। साधारण सा दिखने वाला यह काम कई अलग-अलग जगह पर होता है।

साबिन मलिक अपने नेटवर्क के बारे में बताते हैं, 'शकरपुर में, जो यहां से एक किलोमीटर दूर है, वहां हम केवल किनारों पर डोरी लगाने का काम करते हैं। अकबरपुर में वे केवल पान या सांधा लगाते हैं। पास के दादिबा में वे धड्डा चिपकाने का काम करते हैं। तीन किलोमीटर दूर नागरा गांव में वे कमान लगाते हैं, मटन मार्केट में पट्टी लगाने का काम होता है, ताकि

उसे मजबूती प्रदान की जा सके। वे वहां फुदड़ी भी बनाते हैं।' कुछ यही कहानी गुजरात के खंभात, अहमदाबाद, नडियाद, सूरत, और बाक़ी दूसरी जगह के सभी पतंग निर्माताओं की भी है।

60 वर्षीय मुनव्वर खान अहमदाबाद में इसी व्यवसाय में लगे हुए चौथी पीढ़ी के सदस्य हैं। उनका काम बेल्लारपुर या त्रिवेणी से पतंग के कागज मंगवाने से शुरू होता है। इन दोनों जगहों का नाम निर्माताओं के नाम पर रखा गया है। बेल्लारपुर इंडस्ट्रीज अहमदाबाद में और त्रिवेणी टिश्यूज कोलकाता में स्थित है। बांस की छड़ियां असम से मंगवाई जाती हैं और कोलकाता में विभिन्न आकारों में काटी जाती हैं। कागज की खरीद के बाद उसे उनकी कार्यशाला में भेजा जाता है, जहां विभिन्न आकारों में कागज कटाई का काम होता है।

उन कागजों को लगभग 20 शीटों के साफ-सुथरे बंडलों में रखकर, वह एक बड़े चाकू की सहायता से उन्हें पतंगों की आवश्यकता के अनुसार एक खास आकार में उस ढेर को काटना शुरू कर देते हैं। फिर वह उन्हें इकट्ठा करके अगले कारीगर को पहुंचा देते हैं।

खंभात में, 41 वर्षीय राज पतंगवाला भी वही काम करते हैं। वह पतंगों के लिए अलग-अलग आकार की आकृतियां काटते हुए मुझे अपने काम के बारे में बताते हुए कहते हैं, 'मैं सारा काम जानता हूं। लेकिन मैं अपने ऊपर इतने सारे कामों का भार नहीं ले सकता। खंभात में हमारे कई कारीगर हैं, जिनमें से कुछ बड़ी पतंगों पर काम करते हैं, तो कुछ छोटी पतंगें बनाते हैं। और हर एक आकार की 50 अलग-अलग तरह की पतंगें बनाई जाती हैं।'

जब तक मैं अपने अनुभवहीन हाथों से घेंशियो (एक ऐसी पतंग जिससे एक झालर लटकती है) को अपनी छत से केवल तीन मीटर की छोटी दूरी तक ले जा पाती हूं, तब तक कई आकार की बहुरंगी पतंगें आकाश में शानदार उड़ानें भरने लगती हैं।

आसमान तब तक चीलों (पक्षी के आकार की लड़ाकू पतंग, जिसके लंबे पंख होते हैं), चंदेदारों (जिसके बीचों बीच एक या उससे ज्यादा वृत्त होते हैं), पट्टेदार (जिसमें एक से ज्यादा रंग की आड़ी तिरछी या सीधी पट्टियां लगाई जाती हैं), और दूसरी कई तरह की पतंगों से भर जाता है।

एक पतंग का डिजाइन, रंग और उसका आकार जितना अधिक जटिल होता है उसके कई टुकड़ों या हिस्सों को उतने ही कुशल श्रम द्वारा एक साथ लगाने की आवश्यकता होती है। खंभात के अकबरपुर में रहने वाली कौसर बानू सलीमभाई की

उम्र 40 से 50 साल के बीच में है, और वह पिछले 30 सालों से यह काम कर रही हैं।

वह एक डिजाइन को पूरा करने के लिए पतंग के कागज पर रंगीन आकृतियों को मिलाते हुए उनके किनारों पर एक साथ चिपका देती हैं। कौसर अपने आस-पास इकट्ठा हुई औरतों की ओर इशारा करते हुए बताती हैं, 'यहां पर हम औरतें ही यह काम करती हैं। पुरुष फैक्ट्री में कागज काटने या पतंग बेचने जैसे दूसरे काम करते हैं।'

कौसर बानू सुबह, दोपहर, और अक्सर रात को काम करती हैं। वह बताती हैं, 'कई बार मुझे अपने बनाए एक हजार पतंगों पर 150 रुपए मिलते हैं। अक्टूबर और नवंबर में जब पतंगों की मांग अपने चरम पर होती है, तब ये मजूरी बढ़कर 250 रुपए तक हो जाती है। हम औरतें खाना पकाने के साथ-साथ घर के दूसरे काम भी करती हैं।'

साल 2013 में स्व-नियोजित महिला संघ द्वारा किए गए एक अध्ययन में पाया गया है कि इस उद्योग में कार्यरत 23 प्रतिशत महिलाओं की एक महीने की आमदनी 400 रुपए से भी कम है। अधिकांश महिलाओं की आय 400 से 800 रुपए के बीच है। केवल 4 प्रतिशत महिलाएं ऐसी हैं जो एक महीने में 1200 रुपए से अधिक कमाती हैं।

इसका मतलब है कि उनमें से अधिकांश की महीने भर की आमदनी एक डिजाइनर पतंग के बिक्री मूल्य से भी कम है, जो एक हजार रुपए तक में बिकती है। अगर आप बाजार में बिकने वाली सबसे सस्ती पतंग भी खरीदते हैं, तो आपको करीब 150 रुपए में 5 पतंगों का एक सेट खरीदना पड़ेगा। सबसे महंगी पतंगें 1000 रुपए या उससे ज्यादा में बिकती हैं। इन सबके बीच, उनकी कीमतों की सीमा उतनी ही चौकाने वाली है जितनी पतंगों की किस्मों, आकारों, और उसकी आकृतियों की संख्या। यहां सबसे छोटी पतंग का आकार 21 × 25 इंच होता है। सबसे बड़े आकार की पतंग इससे दो से तीन गुना बड़ी होती है।

जैसे ही मेरी पतंग थोड़ी दूरी तय करके छत पर लौटी, मुझे याद आया कि एक दर्शक 'धड़ो मचाड़! (पतंग के बीचोंबीच लगी बांस की डंडी को मोड़ो)' चिल्ला रहा था। इसलिए, मैंने अपने छोटे हाथों से पतंग को ऊपर और नीचे के सिरे से पकड़ लिया और उसकी डंडी को घुमा दिया। डंडी को लचीला होना चाहिए, लेकिन इतना कमजोर नहीं कि मुड़ने पर टूट जाए।

दशकों बाद, मैं खंभात के चुनारवाड़ की 25 वर्षीय जयाबेन को पतंग में बांस की पतली छड़ियों को चिपकाते देख रही हूं। वह जिस गोंद का इस्तेमाल कर रही है, वह घर पर उबले साबूदाने (सागो) से बनाया गया है। उसके जैसी कारीगर

को हजार छड़ियां चिपकाने पर 65 रुपए मिलते हैं। पतंग निर्माण प्रक्रिया में अब अगले कारीगर को पतंग की कमान (पतंग के बीचोंबीच लगी दो डंडियां) ठीक करनी होगी।

लेकिन कमान को पॉलिश और चिकना करने की जरूरत होती है। चुनारवाड़ की 36 वर्षीय आशाबेन पिछले कई सालों से बांस की डंडियों को छिलने और उसे चिकना करने का काम रही हैं। वह अपने घर में बांस की डंडियों के बंडल के साथ बैठी हुई हैं और अपनी तर्जनी उंगली पर साइकिल-ट्यूब रबर को लपेटकर उन्हें एक तेज रेजर चाकू से छीलती हैं। आशाबेन बताती हैं, 'मुझे ऐसी एक हजार डंडियों को छीलने पर 60 से 65 रुपए मिलते हैं। इस काम से हमारी उंगलियां खुरदुरी हो जाती हैं। बड़ी डंडियों पर काम करने से तो कई बार उंगलियों से खून भी निकल आता है।'

अब चूंकि कमान चिकना किया जा चुका है, अब इसे बैंडिंग की प्रक्रिया से गुजरना होगा। 60 वर्षीय जमील अहमद की अहमदाबाद के जमालपुर क्षेत्र में एक छोटी सी दुकान है, और वहां कमान के लिए अब भी बैंडिंग का काम होता है। अपने मल्टी-बर्नर केरोसिन लैंप बॉक्स से निकलती आग की आठ लपटों पर बांस की कुछ डंडियों को फिराते हैं। इस प्रक्रिया से गुजरकर बांस की डंडियों पर काले रंग की धारियां बन जाती हैं।

जमील अपने कमानों को ठीक करने के लिए एक खास गोंद का प्रयोग करते हैं। 'एक पतंग बनाने के लिए आपको तीन से चार तरह के गोंदों की जरूरत पड़ती है।' उस समय वह हल्के नीले रंग की गोंद का प्रयोग कर रहे थे, जिसे मोर थू-थू कहते हैं। इसे मैदा और कोबाल्ट पिगमेंट को मिलाकर बनाया जाता है। प्रति एक हजार कमान को ठीक करने पर सौ रुपए मिलते हैं।

अहमदाबाद के जुहापुरा में 35 साल की शाहाबिया जिस गोंद का इस्तेमाल पतंग के चारों ओर डोरी चिपकाने के लिए करती हैं वह जमील के गोंद से अलग है। वह इसे अपने घर पर पके हुए चावल से बनाती हैं। वह बताती हैं कि वह यह काम कई सालों से कर रही हैं। वह अपने सिर के ऊपर छत से लटके हुए धागे के मोटे गुच्छ से एक बहुत महीन कतरा खींचती हैं, और जल्दी से उसे पतंग के चारों ओर घुमाते हुए अपनी उंगलियों से गोंद की एक पतली लकीर धागे पर लगाती हैं। उनकी छोटी सी मेज के नीचे लाई (चावल से बना गोंद) से भरा एक कटोरा रखा हुआ था।

'पति के घर लौटने के बाद मैं यह काम नहीं कर पाती हूं। मेरे ये सब काम करने से वह नाराज हो जाते हैं।' उनके काम से पतंग को मजबूती मिलती है और वह फटने से बचता है। हर एक हजार पतंगों पर डोरियां चिपकाने पर उन्हें 200 से 300 रुपए मिल जाते हैं।

इसके बाद, अन्य महिलाएं हर पतंग में बांस की डंडियों को मजबूत करने के लिए कागज के छोटे टुकड़े लगाती हैं, ताकि बीच में लगी डंडियों के किनारे अपनी जगह पर सलामत रहें। उन्हें हर एक हजार पतंग पर किए गए इस काम के बदले 85 रुपए मिलते हैं।

42 वर्षीय, फिरदौस बानू हमारे सामने अपने हाथ से लटकते इंद्रधनुषी गुच्छे दिखाती हैं। चमकीले और रंगीन 100 कागजों से बने एक गुच्छे को पतंग के नीचे पूंछ की तरह लटकाया जाता है। वह अकबरपुर में रहने वाले एक ऑटो-रिक्शा चालक की बीवी हैं, जो पहले ऑर्डर पर पापड़ बनाने का काम करती थीं। फिरदौस बताती हैं, 'लेकिन वह काम बहुत कठिन था, क्योंकि हमारे पास पापड़ सुखाने के लिए अपनी छत नहीं है। यह काम भी आसान नहीं है और इसकी बहुत कम मजदूरी मिलती है। लेकिन मुझे इसके अलावा दूसरा कोई काम नहीं आता।'

एक लंबी तेज कैंची से वह कागज को एक तरफ से कई पट्टों में काटती हैं, जो उनके बनाए जा रहे लटकन के आकार पर निर्भर करता है। फिर वह कागज के टुकड़ों को अपनी बेटियों दिलशाद बानू (17 वर्षीय) और माहेरा बानू (19 वर्षीय) को सौंप देती हैं। वे दोनों एक बार में कागज की एक पट्टी लेती हैं और उनके बीच लाई की एक परत लगा देती हैं। दोनों अपने पैर के अंगूठे से लिपटे धागों के बंडल से एक पतला धागा खींचकर उसे कागज पर घुमाते हुए बीचोंबीच चिपका देती हैं और फिर दोनों सिरों को एक तरफ मोड़ देती हैं। इस तरह एक बेहतरीन फुदड़ी बनकर तैयार हो जाती है। अब जब अगला कारीगर इन फुदड़ी को पतंग से बांधेगा, तो वह उड़ाने लायक हो जाएगी। वहीं, जब ये तीनों औरतें मिलकर ऐसे एक हजार गुच्छे बनाती हैं, तो इसके लिए उन्हें कुल मिलाकर 70 रुपए मिलते हैं।

'लपेट...!' अबकी बार चिल्लाहट आक्रामक थी। एक छत से दूसरी छत जाते हुए मांझा भारी होकर एक कोने गिर गया। हां, इतने दशकों बाद भी, मुझे अपनी पसंदीदा पतंग को खो देना याद है।

अब मैं पतंग नहीं उड़ाती। लेकिन इस हफ्ते मैं ऐसे लोगों से मिलती रही हूं जो अब भी अगली पीढ़ी के बच्चों के लिए इस ऊंची उड़ान को संभव बनाते हैं। इन लोगों की कड़ी मेहनत ही हमारी मकर संक्रांति में रंग भरती है।

लेखक, इस स्टोरी को दर्ज करने में मदद के लिए होजेफ्रा उज्जैनी, समीना मलिक, और जानिसार शेख का शुक्रिया अदा करती हैं।

अनुवाद : प्रतिमा

साभार : <https://ruralindiaonline.org/hi/articles>

लता मंगेशकर : उर्दू साहित्य में

फ़ैयाज़ अहमद वजीह

//

उर्दू साहित्य में लता मंगेशकर सांस्कृतिक विविधता और संदर्भों के बीच कई बार ऐसे नज़र आती हैं जैसे वो सिर्फ़ आवाज़ न हों बल्कि बौद्धिकता का स्तर भी हों

धूप, साया, रोशनी, रंग और नूर के पैकर में ढली ये आवाज़, शायद आने वाली सदियों के कानों में भी रस घोले...

और अंतहीन युगों की स्मृतियों में हमारी सदी को पुकारे... उस सदी को जिसमें लता मंगेशकर थीं और हम थे...

इस अनुभूति के बावजूद कोई और बात है जो मुझे ग़ालिब बेतहाशा याद आ रहे हैं;

ढूँढे हैं उस मुग़ल-ए-आतिश-नफ़स को जी जिसकी सदा हो जलवा-ए-बर्क-ए-फ़ना मुझे शायद ये तलाश भी उनके गीतों में ही कही रखी हो।

मैं ये क्या लिख रहा हूँ, लता मेरे लिए कौन थीं, क्या मैं उनके मॉड्युलेशन को समझता हूँ, उनके आवाज़ की लोचदारी से वाक़िफ़ हूँ, क्या उनके रेंज, डिक्शन और सोज़-ओ-गुदाज़ पर बातें कर सकता हूँ।

इस तरह की अक्सर बातों का जवाब है, बिल्कुल नहीं। फिर, वो शायद मुझे ऐसे सादा दिलों की सिम्फ़नी महज़ हैं, और जीवन की एक ऐसी तरंग, हाँ, मधुर तरंग जो कभी आंखों में शांत पड़ी रहती है और कभी जल-तरंग सी बजने लगती है।

जैसे मन मृदंग की हर थाप यही हो।

हालाँकि, उनके राजनीतिक विचारधाराओं से असहमति अपनी जगह, उनकी आवाज़ की पाकीज़गी से किस काफ़िर को इनकार होगा। ये आवाज़ कानों में पहली बार कब पड़ी याद नहीं, शायद हमने अज्ञान के साथ ही उनकी आवाज़ सुनी हो।

मुझे याद है कि नानी अक्सर उनका गीत 'जिया बेकरार है' अपने ख़ास अंदाज़ में गाया करती थीं, और हम हंसा करते थे।

ऐसे ही किसी लम्हे में वो हम से जुड़ी होंगी, फिर रेडियो और वॉकमैन से होते हुए हमारे मोबाइल की गैलरी में कब दिल जैसी जगह बना चुकी, उसका स्मरण फ़िलहाल मुश्किल है। कुछ ख़ास लम्हों और कई आवारा रातों हमने लगातार 'लग जा गले...'

एक अजीब सी कैफ़ियत में डूब कर सुना है।

इसमें आज भी अतीत की परछाइयाँ देख लेता हूँ, और याद पड़ता है कि इसी गीत की वजह से हमने कभी इसके गीतकार राजा मेहदी अली ख़ान का लगभग सारा साहित्य पढ़ लिया था।

और ऐसे ही किसी वक्त में ये भी हुआ कि उर्दू साहित्य में जहाँ भी लता जी का तज़िकरा नज़र आया, उसे डायरी में ग्रंथ सूची की तरह दर्ज करने लगा। कई बार जी में आया कि इन संदर्भों को एक मज़मून की सूरीत बांध दूँ। मगर, वो जो कहते हैं कि 'कुछ इश्क किया, कुछ काम किया' वाली कैफ़ियत में हमने 'दोनों को अधूरा छोड़ दिया।'

डायरी के उन्हीं पन्नों से इस 'आवाज़' की एक तस्वीर बनाने की कोशिश में ये सब लिख रहा हूँ।

और उससे पहले इसी डायरी से ज़ेएनयू के दिनों के अपने अजीज़ कॉमरेड और शायर मोईद रशीदी के वो शेर यहाँ दर्ज कर करता हूँ, जिन्हें वो लता की शान में एक ख़ास अंदाज़ में अक़ीदत के साथ पढ़ा करते थे;

शहद में घुलती हुई सौत-ओ-सदा, जादू है

रूह का कोई हवाला कि दुआ, जादू है

नूर है उसके गले में कि खुदा का जलवा

दिल ने आवाज़ सुनी बोल पड़ा, जादू है

मुझे सोचकर ख़ुशी हो रही है कि हमने लता को सिर्फ़ सुना और महसूस नहीं किया, बल्कि उनके बारे में बातें की हैं और उन पर शेर कहने वाले दोस्त को जी भर दाद भी दी है।

ख़ैर, अब उन पन्नों की तरफ़ आता हूँ जहाँ मंटो के उस स्केच का संदर्भ है, जो उन्होंने नूरजहाँ के लिए लिखा था। हाँ, मंटो नूरजहाँ के परस्तार थे और उनकी आवाज़ से 'लोच', 'रस' और 'मासूमियत' के चले जाने का ज़िक्र करते हुए भी उन्हीं में गुम थे, लेकिन;

‘लता मंगेशकर की आवाज़ का जादू आज हर जगह चल रहा है, पर कभी नूरजहां की आवाज़ फ़िज़ा में बुलंद हो तो कान उससे बे-एतिनाई नहीं बरत सकते...’

शायद ये कमाल ही है कि हर हाल में नूरजहां का जाप करने वाले मंटो ने बिल्कुल शुरुआती ज़माने में लता की आवाज़ को ‘जादू’ कहा।

और साहित्य में जब मंटो के दोस्त और नज़्म के बदनाम-ए-ज़माना शायर मीराजी की दिल्ली वाली महबूबा की तस्वीर बनाई गई तो उसके गले की मिठास को भी लता जैसी आवाज़ के हुस्न के तौर पर ही पेश किया गया।

इसी डायरी में क़लम के सुर्ख़ घेरे के अंदर इन्तिज़ार हुसैन के एक कॉलम ‘लता मंगेशकर की वापसी’ का विवरण भी दर्ज है। आज इन्तिज़ार साहब की किताब ‘बूंद-बूंद’ में इस तहरीर को पढ़ रहा हूँ, तो एहसास हो रहा है कि जंग के दिनों में कैसी-कैसी पाबंदियां झेलनी पड़ती हैं। लेकिन, कहां कोई सरहद दिल के साज़ को तोड़ सकी है।

दरअसल, इसी तरह की पाबंदी के कारण भारत-पाक (1965) युद्ध के दौरान सरहद पार के आम लोगों में लगातार 17-18 दिनों तक लता को नहीं सुन पाने की अजीब सी बेचैनी थी। जंग के इन दिनों में चाय की दुकानों पर रेडियो जालंधर से फरमाइशें सुनने वालों की इसी कैफ़ियत का हाल सुनाते हुए इन्तिज़ार साहब याद करते हैं;

‘वो 6 सितंबर था, जब लता मंगेशकर ने हमसे बेवफ़ाई की और हमने इस काफ़िर से किनारा किया।’

और ज्यों ही ये पहाड़ से दिन गुज़रे, और कानों में रेडियो जालंधर से लता ने रस घोलना शुरू किया तो इन्तिज़ार साहब ने ग़ालिब का शेर पढ़ा;

फिर उसी बे-वफ़ा पे मरते हैं

फिर वही ज़िंदगी हमारी है

इससे पहले का दिलचस्प हाल सुनाते हैं कि जब रेडियो पाकिस्तान की ‘लश्तम-पश्तम आवाज़’ गूँजती और कोई पनवाड़ी बेचैन होकर स्विच घुमाता, रेडियो सीलोन लगाता या रेडियो जालंधर मिलाता तो ‘कोई तन-जला तंज़ कर देता; उस्ताद जालंधर लगा रखा है और पनवाड़ी झंपकर सुई को फिर अपने स्टेशन पर ले आता।’

और जंग के बाद जब उन्हें अपनी लता फिर से मिल गई तो इन्तिज़ार साहब ने तंज़ किया; ‘यारो ये क्या है कि जंग के



दिनों में तो तुम्हें लाहौर स्टेशन सुने बग़ैर कल नहीं पड़ती थी-जंग का ज़माना रुख़सत हुआ तो तुमने उसे दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंका है...’

फिर यहां इन्तिज़ार साहब न सिर्फ़ लता की लोकप्रियता को इंगित करते हैं, शादी-ब्याह और ज़िंदगी के झमेलों में उनके सुरूर को रेखांकित करते हैं, बल्कि वफ़ूर-ए-जज़्बात में ख़ुद भी गुनगुनाने लगते हैं; ‘कंकरिया मार के जगाया... ज़ालिमा तू बड़ा वो है’

यूं इन्तिज़ार साहब ने बड़े सुथरे अंदाज़ में जंग की मानसिकता के खिलाफ़ उस सांस्कृतिक चेतना को ऊपर उठाने की कोशिश की है जिसमें कोई एक लता जैसी आवाज़ न सिर्फ़ बसती है, बल्कि पड़ोसी मुल्कों के लिए भाईचारे की वजह भी बन सकती है।

ठीक इसी तरह सरहद पार की ही हमारी प्यारी शायरा परवीन शाकिर की नज़्म ‘मुश्तरका दुश्मन की बेटी’ इन दो मुल्कों के हालात और जंगों को संदर्भित करते हुए एक चीनी रेस्तरां के घुटन और हब्स का नक्शा खींचती हैं और कहती हैं;

‘लेकिन उस पल, आर्केस्ट्रा ख़ामोश हुआ

और लता की रस टपकाती, शहद-आगी आवाज़,

कुछ ऐसे उभरी

जैसे हब्स-ज़दा कमरे में

दरिया के रुख वाली खिड़की खुलने लगी हो!

.....

मैंने देखा

जिस्मों और चेहरों के तनाव पे

अनदेखे हाथों की ठंडक

प्यार की शबनम छिड़क रही थी

मसख़-शुदा चेहरे जैसे फिर सवर रहे थे

.....

मुश्तरका दुश्मन की बेटी

मुश्तरका महबूब की सूरत

उजले रेशम लहजों की बाहें फैलाए

हमें समेटे

नाच रही थी!’

शायद ये ख़ुशी में झूमने जैसी बात भी हो कि सरहद पार के ये साहित्यकार अपने ख़ास अंदाज़ में लता को हिंद-ओ-पाक की दोस्ती का सिंबल बनाते हैं और जंग के खिलाफ़ मौसिक्री को

साए में दुश्मन की बेटी की बांहों में नाचने लग जाते हैं।

सरहद पार की ही बात करें तो मुमताज़ मुफ्ती जैसे साहित्यकार जब दिल्ली आते हैं और 'हिंद यात्रा' के शीर्षक से यात्रा वृत्तांत लिखते हैं, तो भारत को 'लता का देश' कहते हैं कि;

'ऐ लता मंगेशकर के देश मैं तुझे प्रणाम करता हूँ। मेरा सलाम कुबूल कर।'

और हमसफ़र दोस्त के याद दिलाने पर कि लता तो बंबई में रहती है, कहते हैं;

'इससे क्या फ़र्क पड़ता है। वो तो मेरे दिल में रहती है। जिंदगी में जितना सुख जितनी खुशी मुझे लता ने दी है। किसी और फ़र्द-ए-वाहिद ने नहीं दी। जवानी में उसने मुझे दिल की धड़कनें दीं, बुढ़ापे में दिल का सुकून दिया। ज़ालिमों ने उसे मंदिर से निकालकर फैशन परेड में बिठा दिया।'

दरअसल, उस समय वो इस बात से नालां थे कि लता को अपनी मौसिकी में ही रमे रहना चाहिए, फैशन वाले गीत नहीं गाने चाहिए। इसलिए उनका दिल ये मानने को तैयार ही नहीं है कि एक हिंदू शुद्ध संगीत को पल भर के लिए भी छोड़ सकता है।

यहां 'हिंदू' और 'संगीत' की बात आ ही गई है तो इस बात की भी चर्चा कर ही दूं कि जहां सरहद पार के कई कलमकार राग विद्या को भारत की रूह मानते हैं, वहीं नूरजहां जैसी गुलूकारा को उनके अपने मुल्क में उचित सम्मान नहीं मिलने के पीछे अपने मज़हब में मौसिकी के 'हराम' होने को भी वजह बताते हैं, और हिंदुस्तान में लता को देवी की तरह पूजने के जज़्बे को सलाम पेश करते हैं।

ख़ैर, इसी कड़ी में शायरी को लोकतंत्र की भाषा में ढाल देने वाले शायर हबीब ज़ालिब भी लता को गले लगाते नज़र आते हैं, और क़ैद की तन्हाई में पुकार उठते हैं;

तुझको सुनकर जी उठते हैं
हम जैसे दुख-दर्द के मारे
तेरे मधुर गीतों के सहारे
बीते हैं दिन-रैन हमारे...

आख़िर ज़ालिब ने जेल में लता को इतनी मोहब्बत से क्यों याद किया होगा, समझना मुश्किल नहीं। हालाँकि, असगर नदीम सैयद इसकी एक ख़ास वजह भी बताते हैं;

'हबीब ज़ालिब ने तारीकी को डराया है-वो लता मंगेशकर का गीत इसलिए पसंद करता है कि वो अपाहिज गदागरों का मिला-जुला कोरस नहीं सुनना चाहता। अगर उसे ये सब कुछ भी सुनना पड़ेगा तो फिर वो ये भी कहने का हक़ रखता है कि मैं अभी तारीकियों के सफ़र से वापिस नहीं लौटा। अलबत्ता वो यक़ीन दिलाता है कि मैं ज़रूर आऊंगा।'

गोया लता ज़ालिब के लिए अंधेरे में रोशनी थीं, खुद ज़ालिब की गवाही कुबूल करें तो वो जेल की तारीकियों में अपने नौजवान दोस्त वहाब से कहा करते थे; कोई लता को ढूँढकर लाओ...वहाब रेडियो पर सुई घुमाते जहां कोई न कोई लता का गाना लगा होता। वो चिल्लाता, ज़ालिब साहब! लता आ गई, लता आ गई...

यूं लता के आ जाने में जीवन की ज्योति का इशारा भी है;
तेरी अगर आवाज़ न होती

बुझ जाती जीवन की ज्योति

इन बातों से इतर उर्दू साहित्य में लता सांस्कृतिक विविधता और संदर्भों के बीच कई बार ऐसे नज़र आती हैं जैसे वो सिर्फ़ आवाज़ न हों बल्कि बौद्धिकता का स्तर भी हों।

मसलन, ज़ाहिदा ज़ैदी के उपन्यास 'इंक्रलाब का एक दिन' में उनके किरदार उर्दू शायरी, अंग्रेज़ी साहित्य, रूसी उपन्यास, अजंता आर्ट और अमृता शेरगिल के साथ लता मंगेशकर के बारे में बात करते हैं तो वो असल में इन बातों को एक बौद्धिक समाज का प्रतीक भी बनाते हैं।

कुरतुलएन हैदर के यहां देखिए तो अपनी किताब 'कोह-ए-दमावंद' में एक जगह बताती हैं कि सड़कों पर बूढ़े उज़बेक सीख कबाब बेच रहे हैं और बाज़ार में लता की आवाज़ सुनाई पड़ रही है। ऐसे में हैदर चौंक कर कहती हैं; समरकंद के बाज़ार में लता का फ़िल्मी गीत! तो गोल्डन समरकंद को क्रिस्सा-ए-माज़ी समझो।

यहां उन्होंने इस बात की तरफ़ इशारा किया है कि एक बेगाने मुल्क में लता की इस तरह की मौजूदगी का मतलब ये भी है कि कल्चरल हेजेमनी या सत्ताधारियों के वर्चस्व का ज़माना लद गया।

बहरहाल, बानो कुदसिया ने 'समझौता' में विभाजन, पाकिस्तान, हिंदू मुसलमान, बांग्लादेश और हिंदुस्तान में पाकिस्तानी क़ैदियों के इर्द-गिर्द एक ताक़तवर कहानी बुनी है। जिसमें एक मंज़र कुछ ऐसा है;

नंबर बासठ,

जी साहब,

लता मंगेशकर का नाम सुना है तुमने ?

जी सर,

ये गाना सुना है; आएगा आने वाला-

जी साहब।

ज़रा सीटी बजाओ इस धुन पर-लेकिन जब मैं कहूं फ़ौरन बंद कर देना।

यस सर।

अब्दुल करीम दुश्मन के सिपाही को खुश करने के लिए काफ़ी देर तक सीटी बजाता रहा।

आएगा आने वाला,
आएगा-आएगा-आएगा...
और दूसरे मंज़र में;

हमें वो लोग याद आने लगे जो पाकिस्तान में हमारी राह देख रहे थे, उस लम्हे हम क़ैदी न रहे। हमारा अपना कोई ग़म न रहा...

इस गीत ने हमारा अपना ग़म, ज़िज़्ज़तें, रुस्वाइयां, भूक, तंगदस्ती, जुल्म, बेग़ैरती, बेइज़्ज़ती को अपने में समो लिया। और उस पर उन लोगों का ग़म ग़ालिब आ गया जो हमारे लिए तरस रहे थे-जो हमारी राह देख रहे थे।

याद दिला दूँ कि फ़िल्म 'महल' के इसी शाहकार गीत ने लता को लोकप्रिय बनाया था। अब इसको इन क़ैदियों की नज़र से देखिए तो शायद इसमें एक दूसरा अर्थ भी नज़र आएगा।

कहीं दूर से आती हुई आवाज़ और एक ख़ास क्रिस्म की धुन को अपनी कहानी में बानो ने इस तरह पेंट किया कि क़ैदी एक तरह की कथार्सिस के भेद को पा लेते हैं, लेकिन उनकी राह देखने वालों का दुःख इस भेद को और गहरा बना देता है।

समझा जा सकता है कि लता किस-किस तरह से साहित्य और उसके रचनात्मक प्रक्रिया का हिस्सा बन जाती हैं।

ऐसे ही अख़्तर ज़माल की कहानी 'स्काई लैब' में एक सुदूर पहाड़ी गांव का चित्रण मिलता है, जहां बस ट्रांज़िस्टर ही है जो यहां के लोगों को बाहरी दुनिया से जोड़ता है।

वो बाहरी दुनिया को ज़्यादा नहीं जानते, ऐसे में ट्रांज़िस्टर की तेज़ आवाज़ में आवाज़ मिलाकर लड़कियों का लता और नूरजहां संग कोरस के अंदाज़ में गाना हमें अपनी सांस्कृतिक स्मृतियों की पुकार लगने लगता है।

ऊपर हमने जंग के दिनों में लता की चर्चा की है, शायद ये संयोग हो कि वो बार-बार इसका संदर्भ बनती हैं। यहां भी देखिए कि 'वियतनाम' के हालात का ज़िक्र करते हुए इसी शीर्षक से भारतीय दर्शन और संगीत से गहरी दिलचस्पी रखने वाले शायर अमीक़ हनफ़ी कह गए;

'...लता मंगेशकर की शहद सी आवाज़ का जादू यकायक तोड़ कर तेज़ाब की बदली से

बिजली बनके गिरती है, लहू में जज़्ब होकर चश्म-ओ-लब पर अश्क-ओ-खून-ओ-नारा-ए-शब-गीर बनकर थरथरती है...

अमीक़ साहब ने 'लता मंगेशकर' के शीर्षक से 1964 में एक और नज़्म कही थी, जो उनकी किताब 'शब-ए-ग़श्त' में

शामिल है।

हालांकि इसकी एक ना-मुकम्मल सूरत इससे पहले फ़िल्म पत्रिका 'माधुरी' में भी छप चुकी थी;

'आवाज़ों के शहर बसे हैं आवाज़ों के गांव हैं
आवाज़ों के जंगल में कांटों से ज़ख्मी पांव हैं
आवाज़ें ही आवाज़ें हैं

लेकिन इक आवाज़

जो ये घने भयानक जंगल चीर के दूर से आती है

...

फिर वो मेरे अंदर की गहराई में खो जाती है'

इस नज़्म में लता को एक ऐसी आवाज़ करार दिया गया है जो शायर के 'ध्यान-नगर में नीले महल बनाती है।'

इसी तरह जाबिर हुसैन जब 'दीवार-ए-शब' में कहते हैं;

'मैं भी कहूंगा वंदेमातरम्

जैसे कि कहती हैं लता मंगेशकर

जैसे कि कहते हैं एआर रहमान

किसी गृहमंत्री

किसी सरसंघचालक

किसी पार्टी अध्यक्ष

के कहने से नहीं कहूंगा मैं

वंदेमातरम्!'

तो हुसैन यहां अक्षरशः वंदेमातरम् कहने की बात नहीं करते बल्कि वो लता और रहमान के देशप्रेम के जज़्बे को इस मुल्क की सियासत के ख़िलाफ़ अपने विरोध का प्रतीक बनाने की कोशिश करते हैं।

इस अध्याय में कुछ अलग रंग की नज़्मों भी हैं, जैसा कि साहिर और लता के क्रिस्से अक्सर लोग जानते हैं, तो बस उनकी दो नज़्मों 'तेरी आवाज़' और 'इंतिज़ार' की चर्चा जिनमें जुदाई की तड़प है, शिकवा है इंतिज़ार हैं और एक हारे हुए आशिक़ की दास्तान है;

'देर तक आंखों में चुभती रही तारों की चमक

देर तक ज़हन सुलगता रहा तन्हाई में

अपने तुकराए हुए दोस्त की पुर्सिश के लिए

तू न आई मगर इस रात की पहनाई में'

इसके बर-अक्स मजरूह साहब ने 'लता मंगेशकर के नाम' के शीर्षक से अपनी शायरी और लता की आवाज़ के हुस्न का ज़शन मनाया है;

मेरे लफ़्ज़ों को जो छू लेती है आवाज़ तिरि

सरहदें तोड़के उड़ जाते हैं अशआर मिरे

यू लता साहित्य में भी एक मुकम्मल कल्चरल डिस्कोर्स हैं, और कई बार हमारे दिनचर्या के हास्य में शामिल होकर साहित्य की इस शैली को भी समृद्ध करने के काम आती हैं।

पहले एक प्रसंग सुन लीजिए कि अख्लाक अहमद देहलवी जोश मलीहाबादी और लता के बड़े प्रशंसक थे और विभाजन के बाद रेडियो पकिस्तान से जुड़ गए थे। एक दिन जब वो रेडियो पर प्रसारण के लिए जा रहे थे तो किसी ने तफरीह के लिए कह दिया, जोश ने लता के लिए क्या खूब कहा है। वो तड़प उठे, बोले क्या कहा है? सामने वाले ने शेर में एक शब्द बदलकर सुना दिया;

वो गूँजा नगमा-ए-शीरी लता का

जमीन-ओ-आसमां खामोश-खामोश

और इससे पहले कि उन्हें रोका जाता और जोश का सही शेर सुनाया जाता, उन्होंने रेडियो पर बड़े मजे से कहा; देखिए हज़रत-ए-जोश मलीहाबादी ने लता को किस अंदाज़ से हृदया-ए-तहसीन पेश किया है।

बाद में इस हास्य के सूत्रधार को ये कहकर सफ़ाई पेश करनी पड़ी कि उन्हें जोश का ये शेर इसी तरह याद था।

अब बाक्रायदा इस शैली के बारे में दो-चार बातें कि शौकत थानवी जैसे बड़े हास्यकार ने जब मौलाना आज़ाद की चर्चित पुस्तक 'गुबार-ए-खातिर' की तर्ज़ पर 'बार-ए-खातिर' लिखा तो इसमें उन्होंने तमाम बड़े लोगों के साथ एक दिलचस्प ख़त लता मंगेशकर को भी लिखा;

'ये आफ़त-ए-होश-ओ-ईमां आवाज़ तो दर-दर और घर-घर पहुंची हुई है। कौन सा ख़िता है जहां ये शराब न बरसती हो। इन नगमों की ज़बान कोई समझे या न समझे मगर ये गीत गुनगुनाने वाले वहां भी मिल जाते हैं जहां उर्दू अभी तक नहीं पहुंची...'

इसी ख़त में आगे कहते हैं;

'मैंने उर्दू के सबसे बड़े मुबल्लिग़ मौलाना अब्दुल हक़ के नाम जो ख़त लिखा है उसमें निहायत संजीदगी के साथ अर्ज़ किया है कि भारत की सबसे बड़ी मौलाना अब्दुल हक़ लता मंगेशकर है, जिसके गाने उस हिंदुस्तान के गोशे-गोशे में रचे हुए हैं जो उर्दू से अपना दामन बचाने का दावादार है, मगर उर्दू है कि लता के गानों की शक़ल में अपने गुण गवा रही है।'

फिर इस अंदाज़ में दाद देते हैं;

'एक मोअत्तर गिलौरी मुंह में हो और कानों में आपकी आवाज़ का रस उंडल रहा हो तो इस दो-आतिशा का कैफ़ मुझको

वाक़ई गुम कर देता है और मैं चाहता हूँ कि कोई मुझको न ढूँढे।'

इसी तरह फ़िक्र तोनस्वी ने जब अपने एक लेख में व्यक्तित्व के साथ नाम के सूट करने के बारे में लिखा तो लता के नाम को भी अपना विषय बनाया;

'लफ़्ज़ मंगेशकर को ज़बान से अदा करते वक्त हलक़, ज़बान और दांतों को तीन मुश्किल स्टेजों से गुज़रना पड़ता है। बिल्कुल रूसी नावेलों के किरदारों की तरह कि वो आसानी से ज़बान की गिरफ्त में आते ही नहीं। लेकिन जब लता मंगेशकर की मुतरन्निम, रसीली और बताशे की तरह घुलती हुई आवाज़ ने हिंदुस्तानियों के आसाब में जादू जगाना शुरू कर दिया और पान फ़रीश से लेकर कॉलेज के लेकर से होते हुए मेम्बरान-ए-पार्लियामेंट तक लता की आवाज़ पर झूमने लगे तो लता मंगेशकर के नाम में कोई अड़चन और दिक्कत न रही। उसके नाम और आवाज़ में पहाड़ी झरने की सी रवानी महसूस होने लगी।'

तोनस्वी साहब ने 'प्याज़ के छिलके' में भी बड़े मजे के साथ लता और उनकी आवाज़ को व्यंग की शैली के लिए बरता है। और इस तरह हमारे ज़माने के हास्य-व्यंगकार मुजतबा हुसैन ने जब अपना ही शोक संदेश लिखा तो ये भी लिख गए कि;

'करोड़ों बरस पुरानी दुनिया में 20 वीं और 21 वीं सदी के बीच ये जो अस्सी बरस उन्हें (मुजतबा साहब) मिले थे, उनसे वो बिल्कुल मायूस नहीं थे। कभी-कभी मौज़ में होते तो अपना मुकाबला दुनिया की बड़ी-बड़ी हस्तियों से करके उन हस्तियों को आन की आन में चित कर देते थे। अपने आपको सिकंदर-ए-आज़म से बड़ा इसलिए समझते थे कि सिकंदर-ए-आज़म ने लता मंगेशकर का गाना नहीं सुना था...'

यू देखें तो लता हर तरह से उर्दू साहित्य की शैलियों में सृजनशीलता का हिस्सा बनती रही हैं, अब दिलावर फ़िगार को ही देखिए कि;

ट्यून में पैदा करो कैफ़ -ओ-असर

जैसे गाती है लता मंगेशकर

इसके अलावा राजिंदर सिंह बेदी (मुक्तिबोध), अब्दुल्लाह हुसैन (नशेब), मुस्तनसिर हुसैन तारड़ (बर्फीली बुलंदियां), अर्श मलसियानी, क़तील शिफ़ाई और गुलज़ार जैसे जाने कितने लिखने वालों ने लता को उर्दू साहित्य के बौद्धिक सम्पदा में शामिल करने की कोशिश की है।

साभार : thewirehindi.com

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-011-26177904, टेलीफैक्स : 091-011-26177904

ई-मेल : prakashan.isd@gmail.com, notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए